श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० २८

❀ श्री जिनाय नमः ❀

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

मोक्षपाहुड

सम्पादक :

श्री पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर

शास्त्री, न्यायतीर्थ, बी० ए०, एल० एल० बी०,

सिवनी (म० प्र०)

प्रकाशक

दशम प्रतिमाधारी

ब्र० लाडमल जैन

आचार्य श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

शांतिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०)

"प्रकाशकीय"

महर्षि कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भौतिकतासे लिप्त प्राणियोको आध्यात्मिक सम्पदा के रूप मे अनेक अध्यात्म ग्रन्थरत्न दिये जिनमे 'समयसार' जिसे श्रमणसार भी कहा जा सकता है श्रमणोके लिये मुख्यतया बनाया वही प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, रयणसारादि ग्रंथरत्नोका सृजन भी किया है। इसी श्रृ खला मे अष्टपाहुड ग्रंथमें विभिन्न पाहुडोंके माध्यमसे दर्शन, चारित्र एव भक्ति आदि की महत्ताका प्रतिपादन किया है। इन आठ पाहुडोमे 'मोक्षपाहुड' भी एक प्राभृत ग्रन्थ है। वर्तमानमें कुन्दकुन्दाचार्य की वाणीमे एकान्तका मिश्रण करके उसे विकृत किया जा रहा है। उसी एकान्त-पक्षका निरसन करने एव सर्वज्ञदेवके अनेकान्त सिद्धान्तकी प्रतिष्ठापना करनेके लिये विद्वद् जगत्के सिद्धहस्त लेखक वाल ब्र० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर शास्त्री-न्यायतीर्थ एल० एल० बी० सिवनी म० प्र० ने कुंदकुंदाचार्यकृत मोक्षपाहुडका भाषानुवाद किया है। इससे पूर्व आप अपनी अनेकान्त लेखनी द्वारा 'अध्यात्मवाद' की मर्यादा, स्याद्वादचक्र, सम्यक्त्व ज्योति आदि अनेक लघुकाय निवन्ध रचना एव ग्रन्थ लिख चुके है। आशा है पडितजीकी लेखनीसे प्रसूत 'मोक्षपाहुड' ग्र थ प्रबुद्ध एव विचारक पाठक तथा जन सामान्य पढकर चिन्तन-मनन करेगा एवं आचार्यो की स्याद्वाद वाणी मे जो एकान्त मिथ्यात्वरूपी विष मिलाया जा रहा है उस विकृतिको दूर करने मे तथा स्याद्वादमयी वाणीका प्रचार प्रसार करनेमें अपना योगदान देगे। इसी उद्देश्यको लेकर १०८ आचार्य श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला के २८ वें पुष्परूपमे इस ग्रंथका प्रकाशन किया जा रहा है। पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर जैन समाज के जाने माने विद्वान है उनकी जिनवाणी सेवा ने उन्हे समाज मे उच्च स्थान प्रदान किया है मंगल कामना है गुरुभक्तिको हृदयमे सदैव विद्यमान रखते हुए चिरकाल तक वे जिनधर्म सेवा मे संलग्न रहे। उक्त ग्रथमालाको अपनी प्रस्तुत कृति प्रकाशनार्थ भेजी अत हम विद्वान लेखक के अत्यन्त कृतज्ञ हैं एव मगलकामना करते हैं कि उनको दीर्घ जीवन प्राप्त हो तथा उनकी सशक्त लेखनी से स्याद्वादवाणी के प्रचार-प्रसार मे चिरकाल तक योगदान मिलता रहे।

कमल प्रिन्टर्सके मालिक पाचूलालजी भी धन्यवादाई है कि जिन्होने कार्याधिक्यत्य के कारण व्यस्तता होते हुए भी इस ग्रंथको प्रकाशित करने की सहर्ष स्वीकृति देकर शीघ्रातिशीघ्र इसका प्रकाशन किया है। विज्ञेषु किमधिकम्।

वसन्त पंचमी
२०३६

—ब्र० लाडमल जैन

आमुख
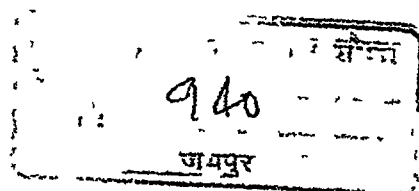
वातावरण—

तीर्थङ्कर भगवान महावीर की सम्पूर्ण देशना, स्याद्वाद शैली पर प्रतिष्ठित है। इसके कारण ही उनका शासन अजेय और सच्चा कल्याणदायी है। मोक्ष की आकांक्षा जिनके अंतःकरण मे है, उन्हे कुंदकुंद स्वामी ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर मुनि धर्मका आश्रय लेना उचित बताया है।

प्रवचनसार—

श्रमणो के लिये कल्याणकारी अध्यात्म शास्त्र समयसार का महत्वपूर्ण स्थान है; उसमे निश्चयनय की मुख्यता से स्वसमय अर्थात् शुद्ध आत्मा के विषय मे वर्णन किया गया है। वास्तव मे वह ग्रंथ समयसार होने के साथ 'श्रमणसार" भी है। वह ग्रंथ परिग्रह त्यागी के लिये अमृत तुल्य है किन्तु प्रमादी और विषय लोलुपी विषयादि में लिप्त गृहस्थ उस शास्त्र से आत्महित के स्थान मे प्रमादी जीवन को पोषण प्रदान करते हैं। समयसार दधि सदृश है। अच्छे बरतन मे रखा गया दधि उदर व्यथा वाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाता है। वही दधि ताम्रपात्र मे रख जाने पर जहरीला हो जाता है, उससे लाभ के बदले हानि होती है।

वर्त्तमान समय मे अध्यात्म का एकांत रूपसे पक्ष लेने वालो ने सर्वज्ञ शासन की देशना मे विकृति लाने का विनिन्दित कार्य किया है; ऐसे व्यक्ति अन्य अज्ञ लोगोको सत्य मार्ग से विचलित करते है। जिन कुंदकुंद ऋषिराज ने समयसार बनाया है उनकी दूसरी रचना मोक्षपाहुड है वह समयसार के अयथार्थ स्वरूप को समझने के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्तियो का निराकरण करता है। उस शास्त्र को ग्रंथकार ने अविनाशी सुख का कारण कहा है।

ग्रंथ का महत्त्व—

कुंदकुंद स्वामी कहते है—

एवं जिण पण्णत्तं, मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढदि सुणदि भावदि सो पावदि सासयं सोक्खं ॥१०६॥

इस प्रकार सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा मोक्षपाहुड को जो अत्यन्त भक्तिपूर्वक पढता है, सुनता है तथा उसकी भावना करता है, वह जीव अविनाशी सुख को पाता है।

इन शब्दोसे यह स्पष्ट होता है कि पुद्गलरूप यह शास्त्र चेतना लक्षण वाले जीव का हित साधक है। इसलिये यह एकातवादी कल्पना असंगत हो जाती है कि "एक द्रव्य के द्वारा दूसरे द्रव्य का कार्य नही होता है। शास्त्रो से जीव का हित नही होता" ऐसी ही अनेक बातें ग्रंथ मे दी गई है जिनसे एकान्तवाद का रोग दूर किया जा सकता है।

तप का महत्व—

अविवेकी लोग ज्ञान का गुण गाते समय तप और त्याग का तिरस्कार करते पाये जाते है। सदाचारी व्यक्ति की निन्दा और पाप पंक मे लिप्त किंतु अध्यात्म की चर्चा करने वाले के चरणामृत का पान करते है। मोक्षपाहुड मे कहा है कि तप रहित ज्ञान इष्ट साधक नही है।

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणा णाउदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाण जुत्तो वि ॥

जिन तीर्थङ्कर की मोक्ष प्राप्ति निश्चित है वे दीक्षा धारण करने के पश्चात् मति, श्रुत अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी तप को अगीकार करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञान समन्वित होते हुए भी द्वादश प्रकार का तप करना चाहिये। ऐसा करने पर ही मोक्ष मिलेगा। अकेला ज्ञान या अकेला तप मोक्षप्रद नही है।

आचार्य कहते है—

तवरहियं जं णाणं, णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाण-तवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥

तप रहित ज्ञान तथा ज्ञान रहित तपश्चर्या भी अकृतार्थ है अर्थात् मोक्षप्रद नही है अत ज्ञान सहित तप धारण करने वाली आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है।

उदाहरण—

इस प्रसग मे भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर के मुनि हो जाने पर उनका छह माह पर्यंत आहार त्याग रूप बाह्य तपको धारण करना हमारा मार्ग दर्शन करता है। इस प्रकाश में तप करना जड शरीर की क्रिया है। आदि बातें उन्मत्त व्यक्ति के प्रलाप सदृश हो जाती है। ज्ञानवान् आत्मा के लिये तप आवश्यक है। उससे पूर्व सचित कर्मका क्षय होता है, सवर भी होता है। तीर्थंकर भगवान् का आदर्श अनुकरणीय है।

तप तथा व्रत हेतु प्रेरणा—

आगम मे लिखा है कि यदि काललब्धि किसी जीवके नही आई है तो वह किसी भी स्थिति मे सम्यक्त्व को नही प्राप्त कर सकेगा। राजवार्तिक मे लिखा है "काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा

भव्य. काले अर्धपुद्गलपरावर्त्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्व ग्रहणयोग्यो भवति। नाधिक इति। इयं काललब्धिरेका"

काललब्धि का स्वरूप—

कर्मबद्ध भव्य जीव अर्द्धपुद्गल परिवर्त्तन रूप काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण योग्य होता है। अधिक काल रहने पर नही।
(राजवार्त्तिक अध्याय २, सूत्र ३ पृष्ठ ७२)

ऐसे व्यक्ति को दिया गया सम्यक्त्व का उपदेश फलप्रद नही होगा, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को अध्यात्मशास्त्र कितना ही पढाया जाय वह अपने स्वरूप को नही समझ पायेगा। तोते की तरह वह आत्मा की बातें कर सकेगा किंतु उसमे सम्यक्त्व की ज्योति अपना प्रकाश नही देगी। महावीर भगवान् के जीव ऋषभनाथ जिनेन्द्र के पौत्र मरीचि का जीवनवृत्त उद्बोधक है। ऐसी स्थिति में कल्याण का क्या उपाय है ? सम्यक्त्व की प्रतीक्षा करते करते शरीर से प्राण निकल गये तो सचित पाप कार्य के फल स्वरूप जीव को नरक या पशु पर्याय मे दु ख भोगने पड़ेंगे। इस विषय में मोक्ष पाहुड में कहा है—

वरं वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
तवट्ठियाणं पडिवालंताणं गुरुभेयं ।।२५।।

व्रतादि पालन तथा तपस्या के द्वारा स्वर्ग गमन करना अच्छा है, व्रत तप शून्य पाप कार्य निरत जीवन द्वारा नरक में दुःख भोगना उचित नही है। छाया मे बैठकर अथवा भीषण गर्मी का कष्ट भोगते हुए प्रतीक्षा करने वालो मे महान् अतर है।

यहां कुंदकुंद स्वामी की यह दृष्टि है कि यदि मिथ्यादृष्टि होते हुए भी तुमने व्रतादि पालन किये तो स्वर्ग में तुम दीर्घकाल तक नाना प्रकार के सुखो को प्राप्त करोगे; अन्यथा पापाचरण के फलस्वरूप तुम नरक जाकर अपार कष्ट भोगोगे। नरक के विषय में छहढाला मे लिखा है—"तहा भूमि परसत दुःख इसो, बीछू सहस डसें नहिं तिसो।" इस कथनसे आचार्य सम्यक्त्व हो अथवा न हो व्रत और तप का अभ्यास करो, इस बात का उपदेश देते हैं। एकांतवादियो के लिये इस गाथा मे कुंदकुंद स्वामीने मार्मिक शिक्षा दी है।

आत्मा के भेद—

निश्चयनय का वर्णन पढकर जो अपने को सिद्ध स्वरूप समझते हैं और ये मानते हैं कि ससार अवस्था मे भी वे अबद्ध, शुद्ध बुद्ध हैं, उन्हें मोक्षपाहुड ग्र थ मे कुंदकुंद स्वामी समझाते हैं कि आत्मा तीन है, प्रकार की एक बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा इसीलिये अपने को

रमात्मा पद पर विराजमान समझने की बात न करो। पहले बहिरात्मपना छोडे, वह सम्यग्दर्शन ाप्त होने पर ही हो सकेगा।

तिपयारो सो अप्पा, पर-मंतर-बाहिरो दु हेऊणं।

तत्थपरो झाइज्जइ, अंतो गएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥

वह आत्मा, बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। बहिरात्मपने को त्याग कर, अंतरात्मा होकर, परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

समयसार रचयिता कुंदकुंद स्वामी रयणसार की गाथा १४७ मे परमात्मा को स्वसमय (परमप्पो सग समयं) कहा है। चौथे गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान पर्यन्त अतरात्मा जानना चाहिये। इसके नीचे की अवस्था मे बहिरात्मा है।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भव्य जीव को जिनेन्द्र भगवान की आराधना द्वारा परमात्मा बनने का सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए। "तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिव" तिलोंके भीतर जैसे तेल पाया जाता है उस प्रकार शरीर मे रहने वाली आत्मा भी परमात्मा रूप मे अपने को अभिव्यक्त कर सकती है। तिलो को घानी मे पेलकर तेल प्राप्त होता है, इसी प्रकार रत्नत्रय की अग्नि से परिशुद्ध किया गया आत्मा, परमात्मा बनता है। आंख बन्द करके मैं परमात्मा हूँ, आदि गीत गाने से यदि परमात्मा पद मिल जाता, तो फिर सिद्धो की पदवी पाने मे क्षण भर का काल न लगता। मोक्षगामी पुरुषों की जीवन गाथा बताती है कि कितने कठिन प्रयत्नो के बाद वे सिद्ध बने है इस विषय मे पाण्डवो का चरित्र प्रकाश दाता है।

भक्तिमार्ग—

इस गाथा के अर्थ पर गभीर चिन्तन और मनन करने पर इस दु खमा काल के गृहस्थ के लिये जिनेन्द्र भक्ति का पथ ग्रहण करना हितकारी रहेगा। वीतराग की भक्तिरूप औषधि, मिथ्यात्त्व रूपी महान् ज्वर की श्रेष्ठ औषधि है। भक्ति रागभाव होने से मोक्ष मे बाधक है, ऐसे आगम विरुद्ध बोलने वालोको कुंदकुंदस्वामी भाव पाहुड मे कहते हैं—

जिणवर चरणंबुरुह, णमंति जे परम भत्ति रायेण।

ए ते जम्मबेलिमूलं, खणंति वर भाव सत्थेण ॥१५१॥

जो श्रेष्ठ भक्ति युक्त हो, जिनेन्द्र के चरण कमलो को प्रणाम करते है, वे पवित्र भाव रूपी शस्त्र के द्वारा जन्मरूपी वेल की मूल को छेद देते हैं।

सम्यक्त्व का लक्षण—

आचार्य कुंदकुंद की दृष्टि मे जिनेन्द्र की भक्ति का बडा ऊँचा स्थान है। उन्होंने शील पाहुड ग्रथ मे "अरहते सुहभत्ती सम्मत्त" अरहंत में शुभ भक्ति सम्यक्त्व है (गाथा ४० मे ऐसा कथन किया है।)

मोक्षपाहुड में सम्यग्दर्शन के विषय मे बडी महत्त्व की वात कही है जैसे गृहस्थों के लिये आठ मूलगुण रूप चारित्र कहा है क्योंकि दोनो की शक्ति और पात्रता मे अन्तर है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के विषय मे भी पृथक् २ प्रतिपादन हुआ है। श्रावकों की अपेक्षा सम्यक्त्व का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

> **हिंसारहिये धम्मे, अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।**
> **णिग्गंथे पावमणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥**

हिंसा रहित धर्म मे, क्षुधादि १८ दोष रहित अरहतदेव और निर्ग्रंथ गुरु मे तथा उनकी वाणी रूप जिनागम मे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। यहां कुंदकुंद महर्षि ने "सद्दहणं होइ सम्मत्त" श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है अत इसे सम्यक्त्व का बाहरी चिन्ह कहना उचित नही है। इस गाथा न० ९० के पूर्व मे आगत गाथा ८५ को देखने पर यह विदित होता है कि आचार्य ने श्रावक की अपेक्षा सम्यक्त्व का वह स्वरूप बताया है जिसको वह ग्रहण कर सकता है। निश्चयनय मे कहा गया "अप्पाण सद्दहणं सम्मत्त" (२०-दर्शन-पाहुड) आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय से सम्यग्दर्शन है। यह स्वरूप प्रतिपादन श्रमण की अपेक्षा किया गया है। श्रमणो के सम्यग्दर्शन की वातें करने वाला तथा आर्ष परम्परा के विपरीत प्रलाप करने वाला महा मिथ्यात्वी होता है।

मुनि पद और आगम—

रयणसार में कुंदकुंदस्वामी ने लिखा है जो पूर्वाचार्य कथन के क्रम के अनुसार बोलता है वह सम्यक्दृष्टि है तथा जो "सच्छद बोलए सो कुदिट्ठी" जो स्वच्छन्द बोलता है, वह मिथ्यादृष्टि है। (गाथा २३) इस आगम के विपरीत एकान्तवादी कहते हैं कि इस पचमकाल मे सच्चे मुनि नही पाये जाते, वह उनकी मन गढन्त वात है। आप्त वाणी है कि पंचम काल के अंत तक मुनि धर्म रहेगा। इस काल के अभी २५ सौ वर्ष ही बीते हैं, साढे अठारह हजार वर्ष काल बाकी है। मोक्ष पाहुड में कुंदकुंदस्वामी विवेक शून्य व्यक्तियों की मान्यता का इस प्रकार निराकरण करते हैं।

> **अज्जवि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाए वि लहदि इंदत्तं।**
> **लोयं तियदेवत्तं, तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥**

इस काल मे उत्पन्न व्यक्ति निर्मल रत्नत्रय से अलंकृत हो अपनी आत्मा का ध्यान करके इद्र पद, लौकान्तिक देव की अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् वहां से चयकर वे निर्ग्रन्थ मुनि वनकर मोक्ष जाते हैं।

धर्मध्यान रूप शुभ भाव—

एकांतवादी अशुभ भाव और शुभ भावको शुद्धभाव न होने से दोनो को सर्वथा समान रूप मे मानकर शुभ प्रवृत्ति को छोडकर अशुभ मे डूबे रहते हैं। वे तर्क करते हैं कि शुभभाव वन्ध का कारण है, जो बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नही हो सकता।

आचार्य कहते है कि यह धारणा मिथ्या है। धर्मध्यान शुभ भाव है। वह पुण्य का वधक है; उससे पापका सवरण तथा निर्जरा भी होती है। जैसे—एक ही अग्नि प्रकाश देती है, भोजन को पकाती है, दाह का भी कार्य करती है, इसीलिये नरक आदि गति मे कारण आर्त्त और रौद्र ध्यान को तथा परम्परा से मोक्ष देने वाले शुभभाव रूप धर्म ध्यान को समान मानना हस और बगुले को एक मानना सरीखा कार्य होगा।

पंचमकाल में शुक्ल ध्यान नही होता। इस काल में उत्पन्न हुए जो वडे २ ऋद्धिधारी मुनिराज हो गये, वे भी धर्मध्यान को ही धारण कर सके इसीलिये धर्मध्यान रूप शुभभाव के लिये भव्यजीवों को प्रयत्न करना चाहिये। गृहस्थ को दान, पूजा आदि के द्वारा अपने भावो को निर्मल वनाना चाहिए। मोक्षपाहुड में आचार्य कहते है—

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावविदे, णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

इस दु षम कालयुक्त भरत क्षेत्र में, आत्म स्वरूप मे स्थित मुनिराज के धर्मध्यान पाया जाता है। इसे जो नही मानता है, वह अज्ञानी अर्थात् मिथ्यात्वी है।

विवेकी व्यक्ति का कर्त्तव्य है—

अशुभ भाव को त्याग कर, सदा धरो शुभ भाव।
शुद्ध भाव आदर्श है, यह आगम का भाव ॥

जिस प्रकार शुक्लध्यान रूप शुद्धभाव मोक्षका कारण है उसीप्रकार धर्मध्यान को भी मोक्षका कारण तत्त्वार्थसूत्र मे 'परे मोक्ष हेतू' सूत्र २९ अध्याय ९ में कहा गया है। धर्मध्यान मोक्षका परम्परा कारण है, शुक्लध्यान साक्षात् कारण है।

त्रिगुप्तियुक्त ज्ञानी—

एकान्तवादी चारित्र से डरने के कारण अकेले ज्ञानको ही सर्वसिद्धियोंका प्रदाता मानता है। वह कहता है "करोडों वर्ष तप करने पर भी अज्ञानी जितनी निर्जरा करता है, उससे अधिक निर्जरा ज्ञानी क्षण मात्र में कर लेता है। इस विषय में कुदकुंदस्वामी यह स्पष्ट करते हैं कि जो ज्ञानी मनगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति रूप चारित्र से समलकृत होता है वह चारित्र युक्त ज्ञानी कर्मों की अल्प काल में महान् निर्जरा करता है। इस सम्बन्ध मे मोक्षपाहुड मे कहा है—

उग्गतवेणण्णाणी, जं कम्मं खवदि भवहिं बहुएहिं।
तं णाणी तिहुं गुत्तो, खवेइ अंतो मुहुत्तेण ॥५३॥

अज्ञानी मुनि घोर तप करता हुआ अनेक भवो में जितना कर्मक्षय करता है—उतनी निर्जरा तीन गुप्ति युक्त ज्ञानी मुनि अतर्मुहूर्त मे करता है।

ध्यान का महत्त्व—

जो यह सोचते है कि ज्ञान मात्र के निर्जरा पूर्वक मोक्ष मिलता है, उन्हे आचार्य कहते हैं कि मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान नही है किन्तु चित्त को एकाग्र करने रूप ध्यान है। रयणसार मे लिखा है—

णाणेण झाणसिद्धी, झाणादो सव्व-कम्म-णिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५७॥

ज्ञान से ध्यानकी सिद्धि होती है तथा ध्यान से संपूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा का फल मोक्ष है, इसीलिए ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। यहा यह बात ध्यान मे रहनी चाहिए कि अतरंग तप का भेद ज्ञान है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है "प्रायश्चित्त विनय—वैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना-न्युत्तरम्" (९-२०)

विषयासक्त का पतन—

मरणासन्न रोगी की रुचि अपथ्य पदार्थों के सेवन की ओर जाती है; इसी प्रकार दुर्गतिगामी जीव सदाचार को विष मान, भोगासक्ति को बुरा नही मानता। वह स्वच्छन्दता पूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ अपने को भगवान् रूप सोचा करता है। ऐसी विपरीत दृष्टि वालों को मोक्षपाहुड की यह देशना, मार्ग-दर्शन प्रदान करती है।

ताम ण णज्जये अप्पा, विसएसु णरो पवट्टए।
विसए विरत्त चित्तो, जोइ जाणेई अप्पाणं ॥६६॥

जब तक मानव विषय भोगो मे आसक्ति धारण करता है तबतक वह विशुद्ध आत्माको नही जानता है। जो मुनीश्वर विषयो से विरक्त हैं वे आत्मा को जानते है। उपरोक्त आर्षवाणी की इस पद्य द्वारा पुष्टि होती है।

> **दो मुख सुई न सीवे कंथा, दो मुख पंथी चले न पंथा।**
> **ये दो काज न होय सयाने, विषय भोग अरु मोक्ख पयाने ॥**

सार—

मोक्षपाहुड की केवल १०६ गाथाओ का मनन करने वाले भव्यजीव, एकान्तवाद के गर्त मे, गिरने से बच जावेंगे, क्योकि इस रचना मे स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिया गया है। समयसार के परिशीलन करते समय उत्पन्न होने वाली उलझनों का सुन्दर समाधान आचार्य कुंदकुंद रचित इस ग्रंथ से प्राप्त होता है।

दिवाकर सदन
सिवनी (मध्यप्रदेश)
२४ मार्च १९७९

सुमेरुचन्द्र दिवाकर
विद्वत्‌रत्न, धर्म दिवाकर
न्यायतीर्थ, शास्त्री
बी. ए., एल. एल. बी.

मांसाहार

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

मोक्षपाहुड

णाणमयं अप्पाणं, उवलद्धं जेण झडिय कम्मेण ।
चइदूण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥

मैं उन सिद्ध भगवान को बारम्बार प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने परद्रव्यों का प...... समस्त कर्मों का नाशकर ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त किया है।

विशेष—यहा आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि सिद्ध परमात्मा पूर्व मे कर्म कलंक युक्त संसारी जीव थे। उन्होने परद्रव्यो का परित्याग करके (झडिय कम्मेण) अपनी आत्मा की शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप अवस्था को प्राप्त किया। ससारी पर्याय मे जीव अशुद्ध रहता है। विकार का क्षय हो जाने पर शुद्ध सिद्ध पर्याय की प्राप्ति होती है। सदा शुद्ध रूप एकान्त मान्यता स्याद्वाद शासन में नही है। वह 'सदाशिव' मत वालो का सिद्धान्त है।

णमिदूण य तं देवं अणंत वरणाण दंसणं सुद्धं ।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥

नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं ।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥

मैं अनंत, श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन युक्त शुद्ध सर्वज्ञ वीतराग देव को नमस्कार कर परम योगियों के आराध्य परमपद प्राप्त परमात्मा का वर्णन करता हूँ।

विशेष—अनतज्ञानादि गुण संपन्न परमात्मा के पद की प्राप्ति मुनीश्वरो का लक्ष्य है। इस कारण उनके हितार्थ परमात्मा का वर्णन करने की ग्रथकार प्रतिज्ञा करते है।

जं जाणिदूण जोई जो अत्थो जोइदूण अणवरयं ।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं हवदि णिव्वाणं ॥३॥

यद्ज्ञात्वा योगी यमर्थं दृष्ट्वाऽनवरतम् ।
अव्याबाधमनन्तं अनुपमं भवति निर्वाणम् ॥

संपूर्ण परिग्रह का परित्याग करने वाले दिगम्बर मुनि आत्मा के विषय में परिज्ञान प्राप्त करके, जिस चैतन्य तत्त्व का निरन्तर दर्शन करते हुए अव्यावाध, अनंत तथा अनुपम निर्वाण को प्राप्त करते है, वह आत्मा त्रिविध है ।

विशेष—यहा 'योगी' शब्द को ग्रहण कर ग्रंथकार यह स्पष्ट करते हैं कि जिस आत्मस्वरूप का यथार्थ अवबोध प्राप्त कर अनुपम मोक्ष प्राप्त होता है, उसकी पात्रता सर्व संग परित्यागी महर्षि मे ही है, विषयो के आधीन गृहस्थ में यह सामर्थ्य नही है। वस्त्रादिधारी व्यक्ति का मन परिग्रह पिशाच से सदा अभिभूत होता है ।

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो दु हेइणं ।
तत्थ परो झाइज्जदि अतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥

त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तो वहिः तु हित्वा ।
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥

वह आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है । वहिरात्म-पने को त्यागकर अन्तरात्मा होकर परम-आत्मा का ध्यान करना चाहिए ।

विशेष—निश्चय दृष्टि से सभी जीव सिद्ध स्वरूप हैं, किन्तु यहा ग्रथकार व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा तीन प्रकार की आत्मा का कथन करते है। इनमे साध्य परमात्म पद है, साधन अतरात्मा रूप अवस्था है, जो वहिरात्मादशा के परित्याग द्वारा प्राप्त होती है। स्याद्वाद तत्त्वज्ञान के प्रकाश मे विरोध भाव का परिहार हो जाता है ।

रयणसार मे कु दकु द स्वामी ने इस प्रकार कहा है—

वहिरतरप्प-भेय परसमयं भण्णये जिणिंदेहि ।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥४७॥

जिनेन्द्र ने बहिरात्मा तथा अंतरात्मा को परसमय कहा है। परमात्मा स्वसमय है। उसके भेद गुणस्थानों मे जानना चाहिए ।

मिथ्यात्व से मिश्र गुणस्थान पर्यन्त बहिरात्मा है । चतुर्थ गुणस्थान में अन्तरात्मा है, उपशान्तकषाय मे मध्यम अन्तरात्मा है, क्षीणकषाय में उत्तम अंतरात्मा है । केवली तथा सिद्ध परमात्मा है, (रयणसार गाथा १४८) ।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः ।
कर्मकलङ्क विमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥

इंद्रियां बहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियो मे उलझा हुआ जीव शरीर आदि अनात्म पदार्थों मे आसक्त होकर बहिर्मुख होता है, इसलिये उसे बहिरात्मा (अर्थात् अपने स्वरूप से बाहर विचरण करने वाला बहिरात्मा) कहा है। अपनी आत्मा मे आत्मा का सकल्पयुक्त अन्तरात्मा है। अर्थात् अनात्म शरीर आदि पदार्थों के प्रति आत्मीय भावना का त्यागकर आत्मा मे स्वयं का निश्चय करना अर्थात् अन्तर्मुख बनने वाला अन्तरात्मा है। सम्पूर्ण कर्मरूपी कलंक रहित भगवान परमात्मा कहे गये हैं।

विशेष—जिस आत्मा मे कर्मरूपी मलिनता थी और जो उस कर्म कलंक से विमुक्त हो गया, अर्थात् जो आत्मा अशुद्ध थी और जिसने अशुद्धता का त्याग किया वह परमात्मा है। त्रिकाल शुद्ध तथा सदा शिव रूप आत्मा है यह सर्वज्ञ शासन की देशना नही है।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

मलरहित. कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलो विशुद्धात्मा ।
परमेष्ठी परम जिनो शिवंकरः शाश्वतः सिद्धः ॥

कर्म मल रहित, शरीर रहित, इंद्रिय रहित, केवलज्ञानी, विशुद्ध आत्मा परमेष्ठी अर्थात् परमपद मे विराजमान, परमजिन, शिव अर्थात् मोक्ष को प्रदान करने वाले तथा अविनाशी सिद्ध भगवान हैं।

विशेष—यहा अनेक नामो के द्वारा परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। यथार्थ मे गुणो की अपेक्षा परमात्मा भिन्न नही है।

आरूहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिदूण तिविहेण ।
झाइज्जदि परमप्पा उवदिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥

आरूह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

मन वचन तथा काय से वहिरात्मपने को त्यागकर अन्तरात्मारूप अवस्था पर आरोहण करके तू परमात्मा का ध्यान कर, ऐसा सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने कहा है।

विशेष—अन्तरात्मा साधक है। उसका साध्य परमात्मा है। वह आराधक है, आराध्य शुद्ध स्वरूप है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्तरात्मा अभी परमात्मा नहीं है। उसे परमात्मा बनना है। इस कार्य मे सर्वज्ञ प्रणीत आगम में प्रतिपादित पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। आगम पथ का परित्याग करने वाले अज्ञानी जीव को अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नही होती।

वहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ ॥८॥

बहिरर्थे स्फुरितमना इंद्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः।
निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥

मूढदृष्टि अर्थात् वहिरात्मा आत्मस्वरूप से भ्रष्ट होकर इन्द्रियो के द्वारा वाह्य वस्तुओं मे अपने मनको लगाकर अपने शरीर को आत्मरूप मे निश्चय करता है।

विशेष—शरीर मे आत्मवुद्धि धारण करने वाले को मूढदृष्टि कहा है। जो व्यक्ति लौकिक महान शास्त्रो का परिज्ञाता है किन्तु जिसकी दृष्टि वहिर्जगत् मे फसी है, वह अध्यात्मशास्त्र मे अज्ञानी माना गया है। हिन्दू शास्त्र उपनिषद् मे परा विद्या, अपरा विद्या रूप से दो प्रकार का ज्ञान कहा है। शास्त्रादि का लौकिक ज्ञान अपरा विद्या है। आत्मा का ज्ञान परा विद्या है। अपरा विद्या मे निपुण व्यक्ति परा विद्या का ज्ञाता न होने पर वह उस परम ज्ञान की अपेक्षा अज्ञानी है।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥९॥

निजदेहसदृश दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥

अपने शरीर के समान दूसरे के अचेतन शरीर को भी प्रयत्नपूर्वक चैतन्य शून्य रूप से ग्रहण कर परम भावरूप भेदज्ञान (अर्थात् शरीर और आत्मा जुदे २ है) द्वारा ध्यान करें।

विशेष—मेरी आत्मा चैतन्य स्वरूप है तथा शरीर अचेतन जड है। इसी प्रकार दूसरे जीव का आत्मा और शरीर भी जुदे है। ऐसी निर्मल दृष्टि आत्म ध्यान के लिए हितकारी है।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदित्थमप्पाणं।
सुय-दाराई-विसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थ-मात्मनाम ।
सुतदारादि-विषये मनुजानां वर्धते मोहः ॥

अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को न समझकर शरीर आदि में आत्मबुद्धि तथा आत्मा में परकीय बुद्धि धारण करने वाले मनुष्यों के पुत्र, स्त्री आदि के संबंध में मोह भाव की वृद्धि होती है।

विशेष—यहाँ ग्रंथकार ने एक मार्मिक तत्व पर प्रकाश डाला है। अज्ञानवश यह जीव जब शरीर के प्रति आत्मबुद्धि को धारण करता है, तब पुत्र, स्त्री आदि के प्रति शरीर से सम्बन्ध होने के कारण मोह भाव उत्पन्न होता है। यदि तत्त्वज्ञान के प्रकाश मे शरीर की आत्मा से भिन्नता रूप श्रद्धा मन मे जम गई तो फिर अन्य पदार्थों के प्रति मोह रूप अज्ञान भाव उत्पन्न नही होता। पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक मे लिखा है—

मूलं संसारदुःखस्य देहएवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैना प्रविशेदत बहिरव्यापृतेन्द्रिय.॥१५॥

शरीर मे आत्मबुद्धि ही संसार के दु.ख का मूल कारण है -इसलिये शरीर में आत्मबुद्धि को छोडकर वाह्य पदार्थों मे इन्द्रियो की प्रवृत्ति को रोककर अन्तरग मे प्रवेश करना चाहिए।

मिच्छाणाणेसु रदो मिच्छाभावेण भाविदो संतो।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सं मण्णदे मणुओ ॥११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अंगं स्वं मन्यते मनुजः ॥

मिथ्याज्ञान में अनुरक्त तथा मिथ्याभाव से युक्त मनुष्य मोह कर्म के उदयवश बारम्बार शरीर को आत्मा मानता है।

विशेष—यद्यपि शरीर जीव से भिन्न है, फिर भी मिथ्यात्व के उदय से दुर्बुद्धि के अधीन हो मनुष्य अपने को सदा शरीर रूप मानता है। यह मिथ्या कल्पना अनादि काल से चली आई है।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्मओ णिरारंभो।
आदसहावे सुरदो जोई सो लहदि णिव्वाणं ॥१२॥

यो देहे निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारभः।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम् ॥

जो योगी अर्थात् दिगम्बर महाश्रमण शरीर के विषय मे निरपेक्ष है अर्थात् अपेक्षा रहित है, निर्द्वन्द्व है अर्थात् झंझटो से रहित है, ममता रहित है तथा आरम्भ रहित होते हुए अपने शुद्ध, बुद्ध ज्ञायक स्वभाव मे निमग्न रहता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

विशेष—निर्वाण पद मुनि को ही मिलता है। आत्मा स्वभाव मे लीन रहने वाला तथा शरीर के प्रति उदासीन वृत्ति धारण करने वाला परिग्रह त्यागी महामुनि निर्वाण को प्राप्त करता है। परिग्रह, आरम्भ आदि के कारण गृहस्थ अवस्था मे अहिंसा धर्म की पूर्ण रक्षा नही होती। श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका में यह उपयोगी गाथा उद्धृत की है—

आरम्भे णत्थि दया महिला संगमेण णासए बंभं।
संकाए सम्मत्त पव्वज्जा अत्थग्गहणेण ॥
आरभे नास्ति दया महिलासगेन नाशयति ब्रह्म।
शंकया सम्यक्त्व प्रव्रज्या अर्थग्रहणेन ॥

आरम्भ मे अर्थात् कृषि व्यापार आदि कार्यों मे पूर्ण दया नही पलती, महिला के ससर्ग से ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। शका द्वारा सम्यक्त्व को हानि पहुँचती है तथा धन का संग्रह करने से मुनि दीक्षा को क्षति पहुँचती है।

परदव्वरदो बज्झदि विरदो मुंचेदि विविह कम्मेहि।
एसो जिण उवएसो समासओ बंधमोक्खस्स ॥१३॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुंचति विविधकर्मभिः।
एष जिनोपदेशः समासतः बधमोक्षस्य ॥

आत्मद्रव्य को छोडकर अन्य वस्तुओ मे अनुराग धारण करने वाला बधको प्राप्त करता है। पर पदार्थों से विरक्त होने वाला व्यक्ति नाना प्रकार के कर्मवन्ध से छूटता है। वध और मोक्ष के विषय मे सक्षेप से इस प्रकार जिनभगवान ने कहा है।

सद्दव्व रदो समणो सम्मादिट्ठी हवेदि णियमेण।
सम्मत्त परिणदो पुण खवेदि दुट्ठट्ठकम्माणि ॥१४॥

स्व-द्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन।
सम्यक्त्व-परिणतः पुनः क्षिपते दुष्टाष्टकर्माणि ॥

आत्मद्रव्य मे निमग्न मुनि नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यक्त्वरूप परिणत वह श्रमण दुःखदायी कर्माष्टकका क्षय करता है।

विशेष—यहां स्वद्रव्य में रत मुनिराजको सम्यक्त्वी कहा है। यह लक्षण निश्चय सम्यक्त्वी मुनिका है। परिग्रह की सतत आराधनारत गृहस्थ "स्व द्रव्यरत" नही हो सकता है। उस गृहस्थ की अपेक्षा आचार्य कुंदकुंद ने आगे ९० नम्बर की गाथामे अहिंसाधर्म, निर्दोषदेव, निर्ग्रन्थ तथा जिन-वाणी में श्रद्धा धारण करने को सम्यक्त्व कहा है। मोक्षपाहुड की वह गाथा इस प्रकार है—

हिंसा रहिदे धम्मे अट्ठारह-दोष-वज्जिदे देवे।
णिग्गथे पव्वयणे सद्दहणं होदि सम्मत्त ॥९०॥

यह गृहस्थ की अपेक्षा प्रतिपादित सम्यक्त्वका स्वरूप व्यवहार सम्यक्त्व है। इसका स्पष्टी-करण दंसणपाहुड की इस गाथा द्वारा होता है—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवदि सम्मत्तं ॥२०॥

जिनेश्वर ने व्यवहारनय से जीव अजीव आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षरूप तत्त्वो का श्रद्धान सम्यक्त्व कहा है। निश्चयनय से आत्मा का श्रद्धान सम्यक्त्व है।

विशेष—आत्मा अर्थात् स्वद्रव्य का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व श्रमण के ही होगा, ऐसा उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है। मोक्ष का साक्षात् संबध मुनि अवस्था से होता है। अत. इस मोक्षप्राभृत में मुख्यता से मुनि की अपेक्षा देशना की गई है। प्रवचनसार मे कुंदकुंद मुनीश्वर ने कहा है "पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्ख-परिमोक्ख" ॥२०१॥ यदि तुम दु ख का पूर्णतया क्षय चाहते हो, तो दिगम्बर श्रमण की पदवी को स्वीकार करो। मुनि हुए विना दु ख क्षय असभव है।

जो पुण परदव्वरदो मिच्छादिट्ठी हवेदि सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

यः पुनः परद्रव्यरत. मिथ्यादृष्टि भवति स साधुः।
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥

जो मुनि परद्रव्य मे रत रहता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। वह मिथ्यात्व रूपसे परिणत होता हुआ दुष्ट आठ कर्मों से बाधा जाता है।

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणइ रइ विरइ इयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यात् दुर्गति स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति ।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरति मितरस्मिन् ॥

परमात्मा के ध्यान से विमुख परद्रव्य में आसक्ति धारण करने वाले साधु को कुगति प्राप्त होती है तथा स्वद्रव्य-आत्मस्वरूप में अनुरक्त मुनि सुगति को प्राप्त होता है। इस बात को जानकर साधु को स्वद्रव्य मे अनुराग करना चाहिए तथा परद्रव्य मे अनुराग छोड़ना चाहिए।

विशेष—पंचमकाल में स्वद्रव्य में रत तथा रत्नत्रय से विशुद्ध मुनिराज देवगति में जाकर इन्द्रपना, लौकान्तिक देवपना प्राप्त करके वहां से चयकर मनुष्य भव धारण करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। विदेह में विद्यमान चरम शरीरी महाश्रमण, उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जो श्रमण अनात्म पदार्थों मे आसक्त हो दुर्ध्यान के आधीन होता है, वह दुर्गति में दुःख उठाता है।

ग्रंथकार स्वद्रव्य, परद्रव्य का इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्त-मिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदव्वदरसीहिं ॥१७॥

आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचित्त-मिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणित अवितथं सर्वदर्शिभिः॥

सत्यस्वरूपदर्शि सर्वज्ञ जिनेन्द्रने अपने आत्म स्वभाव से भिन्न सचेतन स्त्री पुत्रादि, अचेतन धान्यादि तथा आभरण वस्त्रादियुक्त स्त्री आदि रूप मिश्र द्रव्य को परद्रव्य कहा है।

दुट्ठट्ठ-कम्मरहियं अणोवमं णाण विग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि-सद्दव्वं ॥१८॥

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रह नित्यम्।
शुद्धं जिनै. कथितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम्॥

जिनेन्द्र ने कहा है—दुष्ट आठ कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानरूपी शरीर युक्त अविनाशी तथा शुद्ध आत्मा स्वद्रव्य है।

विशेष—"आत्मा भवति स्वद्रव्य, आत्मरूप स्वद्रव्य निजद्रव्यं ज्ञातव्यमिति" टीकाकार कहते हैं—आत्म स्वद्रव्य है। आत्मस्वरूप स्वद्रव्य अर्थात् निजद्रव्य जानना चाहिए। सिद्ध परमात्मा में स्वद्रव्य का लक्षण घटित होता है।

जे झाणंति सदव्वं परदव्व-परम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदिं णिव्वाणं ॥१९॥

ये ध्यायंति स्वद्रव्यं परद्रव्य-पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणं ।।

जो परद्रव्य के ध्यान से विमुख होकर सुचरित्र संपन्न हो ,स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं वे मुनिराज जिनेश्वर के मार्ग मे संलग्न होते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

विशेष—यहा स्वद्रव्य का ध्यान करने वाले मुनियो को 'सुचरित्ता'—निर्मल चारित्र संपन्न होने का प्रतिपादन किया गया है । इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि स्वद्रव्य के ध्याता को श्रेष्ठचारित्र समलंकृत होना चाहिए । मोही तथा अज्ञानी जीव उपरोक्त सत्य को भुलाकर चारित्र से विमुख हो आत्मसिद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं । सछिद्र जहाज मे बैठकर जैसे समुद्र की यात्रा असंभव है उसी प्रकार सदाचार रहित हो दुष्टाचरणरूप छिद्रयुक्त जीवन नौका मोक्ष न जाकर समुद्र के तल मे समा जाती है ।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं, ण लहइ किं तेण सुरलोयं ।।२०।।

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायाति शुद्धमात्मानं ।
येन लभते निर्वाण न लभते किं तेन सुरलोकम् ।।

जो महामुनि जिनेश्वर के आगमानुसार ध्यान में शुद्ध आत्माका ध्यान करके मोक्ष जाते है, वे क्या उस ध्यान के द्वारा स्वर्गलोक को नही जा सकेंगे ?

विशेष—जिनागम के अनुसार ध्यान करने वाले योगी को स्वर्ग तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है । जो चरम शरीरी नही है, वह आत्मा स्वर्ग जाता है ।

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ।।२१।।

यो याति योजनशत दिनेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।
स किं क्रोशार्धमपि हु न शक्यते यातुं भुवनतले ।।

जो व्यक्ति महान भार को लेकर एक दिन मे सौ योजन जाता है, वह क्या इस भूतल पर आधा कोश नही जा सकेगा ?

विशेष—एक दिन मे शत योजन प्रमाण गमन की क्षमता युक्त व्यक्ति का आधा कोस जाना अत्यन्त सरल बात है । इसी प्रकार जिस ध्यान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है, उसके द्वारा स्वर्ग गमन तनिक भी कठिन कार्य नही है ।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्वैः ।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥

जो सुभट युद्धस्थल में करोड व्यक्तियो के द्वारा नही जीता जा सकता है, वह क्या संग्राम में एक व्यक्ति के द्वारा जीता जा सकेगा ?

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहि वि झाण जोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥

स्वर्गं तपसा सर्वोपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यानयोगेन ।
यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥

उपवासादि तप के द्वारा सभी भव्य तथा अभव्य जीव स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, किन्तु आत्म-ध्यान के द्वारा जो भव्य स्वर्ग प्राप्त करता है, वह व्यक्ति आगामी भव मे अविनाशी सुख को पाता है।

अइ-सोहण-जोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च ।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥

जिस प्रकार किट्ट कालिमादि सहित अशुद्ध सोना शोधन योग्य सामग्री तथा अग्नि ताप को प्राप्तकर शुद्ध स्वर्णरूपता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार काल लब्धि आदि–सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल तथा सुभाव रूप सामग्री के सुयोग को प्राप्तकर आत्मा अर्थात् ससारी जीव परमात्मा रूप परिणत हो जाता है।

विशेष—यहा आचार्य यह बात स्पष्ट रूप से समझाते है कि बाह्य अनुकूल सामग्री सहित ससारी जीव कर्मों का क्षय कर परमात्मा बनता है, जिस प्रकार क्षारादि पदार्थों से मिश्रित अग्नि मे तप्त स्वर्ण खोट रहित हो शुद्ध सोना रूप परिणत होता है। ससारी जीव अशुद्ध सुवर्ण सदृश है।

वरं वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छाया-तवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःख भवतु नरके इतरैः ।
छाया तपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥

व्रत पालन तथा तपश्चर्या द्वारा स्वर्ग गमन करना अच्छा है। व्रत, तप शून्य पाप कार्य निरत जीवन द्वारा नरक मे दुःख भोगना उचित नही है। छाया मे बैठकर अथवा भीषण गर्मी का कष्ट भोगते हुए प्रतीक्षा करने वालो मे महान अतर है।

विशेष—यहां आचार्य एक महत्वपूर्ण शका का समाधान करते है। शिष्य पूछता है, भगवन्! काललब्धि आदि सामग्री का सुयोग जब तक नही मिलता है, तब तक जीवन की प्रवृत्ति किस प्रकार की हो, जिससे हित हो? महावीर भगवान के जीव आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ भगवान के पौत्र तथा चक्रवर्ती भरतेश्वर के पुत्र मरीचिकुमार थे। उस समय काललब्धि न आने पर वह जीव मोक्ष के हेतु सच्चा प्रयत्न नही कर सका। जब काललब्धि समीप आई तब क्रूरसिंह की पर्याय मे चारणमुनि युगल की धर्मदेशना द्वारा उस जीव का हृदय सम्यग्दर्शन की ज्योति से जगमगा उठा। उस सिंह ने अहिंसा की आराधना करके आत्मोन्नति के हेतु सन्मार्ग का शरण ग्रहण किया तथा आगे जाकर वर्धमान भगवान की अवस्था को प्राप्त किया।

समाधान—मुक्ति के योग्य सामग्री की उपलब्धि न होने तक दो रास्ते हैं। एक मार्ग है पापाचार मे लिप्त होकर विषयो का यथेच्छ रीतिसे सेवन किया जाय, तथा दूसरा रास्ता है पुण्य प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर व्रत, शील, सदाचार समलकृत जीवन व्यतीत किया जाय?

यदि जीव वध, चोरी, माया, छल प्रपच आदि युक्त जीवन रहा तो आचार्य कहते हैं, पाप के फलस्वरूप उस जीव को नरकादि योनियो मे अपार कष्ट उठाने पडेंगे। ऐसा रास्ता अच्छा नही है।

यह उचित होगा कि वह जीव परिपूर्ण अथवा आशिक अहिंसा, सत्य, सयम, अचौर्य, प्रेम आदि का पथ पकडकर स्वर्ग को प्राप्त करे। नरक मे अवर्णनीय कष्ट भोगने के स्थान मे व्रतादि के परिपालन द्वारा सुगति प्राप्त करना आचार्य महाराजकी दृष्टि मे श्रेयस्कर है।

कोई २ सोचते हैं, हम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के उपरान्त चारित्र को धारण करेंगे, उसके पूर्व हम स्वच्छद रूप से विषयादि का सेवन करेंगे। उन्हे आचार्य कुंदकुंद समझाते हैं, कि सम्यग्दर्शन जब तक नही प्राप्त होता है, तब तक तुम अहिंसा, सत्य, शील आदि सत्पथ को यथाशक्ति अगीकार करो। इसमे तुम्हारा हित है। ऐसा न करके यदि तुमने भोग, विलास मे अपने अनुपम नरजन्म के काल को नष्ट कर दिया, तो तुम्हारा दुष्कर्म तुम्हें नरकादि पर्याय मे गिराकर अपार कष्ट देगा। इसलिए समझदारी इसमे है कि व्रत, उपवास आदि करने मे प्रमाद न हो। सम्यक्त्व रहित अवस्था मे किया गया व्रत कुगति से बचायेगा, और यदि व्रत शून्य जीवन व्यतीत हुआ तो कुगति में वचनगोचर व्यथा भोगनी पडेगी।

नरक के दु:खों का कथन नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने त्रिलोकसार में इस प्रकार किया है—

अच्छि-णिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुवद्धं ।
णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाण ॥२०७॥

नरक में दिन रात तीव्र पीडा से दग्ध नारकियो के नेत्रो की टिमकार मात्र काल पर्यन्त भी सुख नही है, वहां दु:ख की सदा परंपरा चला करती है।

व्रतादि द्वारा प्राप्त स्वर्ग के सुखो के विषय में इष्टोपदेश में पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

हृषीकज मनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसा सौख्य नाके नाकौकसामिव ॥५॥

स्वर्ग में इन्द्रिय जनित आतंक रहित तथा सुदीर्घकाल पर्यन्त प्राप्त सुख होता है। स्वर्ग मे देवताओ का सुख स्वर्ग मे देवताओं के सुख के समान है अर्थात् उनकी उपमा योग्य इन्द्रिय जनित सुख अन्यत्र नही है।

आचार्य भव्य जीव से कहते है 'व्रतं गृहाण'-व्रत ग्रहण कर। इससे तुझे मनोवाछित ही नही अनुपम इन्द्रिय जनित सुख प्राप्त होगा। यदि तूने इद्रियो की दासता वश विषयाशक्ति तथा पापाचरण का पथ पकड़ा, तो तू नरक में जायगा, जहा क्षणभर भी सुख नही है। वहां दु ख के सागर मे तू डूबा रहेगा।

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसार-महण्णवस्स रुंदस्स ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

य इच्छति निस्सरितुं संसार महार्णवस्य रुद्रस्य ।
कर्मेन्धनानां दहनं स ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥

जो मुनिवर अत्यन्त विस्तीर्ण ससार महासागर के पार जाना चाहता है वह कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने वाली शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

विशेष—रागद्वेषादि विकार विरहित शुद्ध आत्मा का ध्यान करने की क्षमता सर्व परिग्रह त्यागी भाव लिंगी दिगम्बर मुनीश्वर के पाई जाती है, परिग्रहासक्त गृहस्थ आर्त-रौद्र ध्यान रूपी पिशाच से ग्रस्त रहने के कारण बडी साधना तथा प्रयत्न के बाद धर्म ध्यान को प्राप्त कर पाता है। श्रेष्ठ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की पात्रता गृहस्थ मे असंभव है।

सव्वे कसाय मोत्तुं गारव-मय-राय-दोस-वामोहं ।
लोय-ववहार विरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥२७॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारव-मद-राग-द्वेष-व्यामोहं ।
लोकव्यवहारविरत आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥

सम्पूर्ण कषायों, शब्दगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव रूप तीन प्रकारके गारव दोष, ज्ञानादि सम्बन्धी अष्ट प्रकार के मद, राग-द्वेष तथा अन्य पदार्थों के प्रति मोह भाव का परित्याग कर लौकिक व्यवहार से विमुख हो ध्यान में स्थित होकर, योगी अपनी आत्मा का ध्यान करता है।

विशेष—आत्मा का ध्यान करने वाले महान योगी की अपेक्षा यहां कुंद-कुंद स्वामी कहते हैं, कि आत्म ध्यान करने वाले व्यक्ति को सम्पूर्ण कषाय, राग, द्वेष, मद, मोह तथा लोक व्यवहार में अनुराग आदि का त्याग करना आवश्यक है, क्योंकि उपरोक्त बाधक कारणों से चचल हुई चित्त-वृत्ति आत्मा की ओर केन्द्रित नहीं हो पाती ।

इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का ध्यान करने की पात्रता बिरले महर्षियो मे पाई जायेगी, जो आत्मबली तथा निर्मल वृत्ति समलंकृत होते हैं ।

मिच्छत्त अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्व मज्ञानं पापं पुण्यं च त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
मौनव्रतेन योगी योगस्थ. द्योतयति आत्मानम् ॥

अध्यात्म योगी मुनिराज मन, वचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान पाप तथा पुण्य का परित्याग कर तथा मौन धारण कर अपने स्वरूप मे स्थिन होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है ।

विशेष—मौन ग्रहण करना योग साधना का आवश्यक अंग है। यह कथन ध्यान देने योग्य है, कारण वचनालाप द्वारा चित्त की एकाग्रता को बाधा पहुँचती है ।

आत्मा मौन व्रत किसलिए स्वीकार करे, उसे इस प्रकार युक्ति पूर्वक समझाते हैं ।

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
ज्ञायको दृश्यतेऽनन्तः तस्माज्जल्पामि केनाहम् ॥

मेरे द्वारा जो विश्व के रूपी पदार्थ देखे जाते हैं, वे पूर्णतया ज्ञान रहित हैं। ज्ञानमय आत्मा रूप रहित होने से नेत्रो के अगोचर है, इससे मैं किसके साथ सभाषण करूं ?

विशेष—यहां एक महत्व पूर्ण, तत्त्व का समाधान किया गया है। तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेने के बाद, मौन व्रत लेते हैं। जिनसेन स्वामी ने सहस्रनाम में कहा है :—

"महामुनिः महामौनी महाध्यानी महादमः (अध्याय ६) भगवान ने महानज्ञानी और अत्यन्त प्रबुद्ध हो जाने के कारण महामौनी वृत्ति स्वीकार की है। इसका कारण यह है कि, नेत्र गोचर होने वाला सारा जगत् जिसमे मानव शरीर भी है चेतना रहित है अर्थात् ज्ञान शून्य है और दृश्यमान शरीर के भीतर निवास करने वाली ज्ञानमय आत्मा नेत्रो के अगोचर है। इस स्थिति मे अचेतन ज्ञान शून्य शरीर के साथ वचनालाप करना प्रबुद्ध विचारक को उचित नही लगता।

सव्वासव णिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥२०॥

सर्वास्रव निरोधेन कर्म क्षिपयति संचितम् ।
योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥

सर्व कर्मोंके आगमन का निरोध हो जाने पर सचित कर्मराशि का क्षय हो जाता है योगस्थ अर्थात् शुक्ल ध्यान युक्त महर्षि जिनेश्वर प्रतिपादित वस्तुओ का प्रत्यक्ष अवबोध प्राप्त करता है।

विशेष—शुक्ल ध्यानके प्रसाद से योगी केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥२१॥

यः सुप्तो व्यवहारे सः योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यः जागर्ति व्यवहारे स सुप्त आत्मनः कार्ये ॥

जो मुनि लोक व्यवहार के विषय मे सुप्त रहता है, अर्थात् उससे बचता है, वह आत्महि
कार्योंमे जागरूक रहा करता है। जो मुनि लोक व्यवहार के विषय मे सजग रहता है अर्थात्, उ
रुचि रखता है, वह आत्म स्वरूप प्राप्ति सम्बन्धी कार्यों मे सोता है अर्थात् असावधान रहता है।

विशेष—यहां व्यवहार शब्द का अर्थ व्यवहार नय नही है, लौकिक व्यवहार है। जिन
निश्चयनय, व्यवहारनय दोनों को सम्यग्ज्ञान रूप स्वीकार करता है।

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण ॥२२॥

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।
ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनेन्द्रेण ॥

इस बात को जानकर मुनीश्वर पूर्णरूपसे लौकिक व्यवहारका त्याग करते हैं तथा जिसप्रकार भगवान ने कहा है, उसप्रकार से परमात्मा का ध्यान करते हैं।

विशेष—ध्यान का महत्व सभी धर्मों मे स्वीकार किया गया है। अर्हंत भगवान के द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुसार ध्यान करने वाला सकल सिद्धियोका स्वामी होता है। एकान्तवादी शासनमें यथार्थ ध्यान असभव है।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
रत्नत्रय संयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥

पंच महाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति तथा रत्नत्रय संयुक्त योगी को सदा ध्यान तथा अध्ययन करना चाहिये।

विशेष—इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष प्राप्ति हेतु ध्यान करने वाले योगी को त्रयोदश विध चारित्र की परिपालना आवश्यक है। आत्मध्यान करने योग्य निर्मल मनोवृत्ति का निर्माण उपरोक्त चारित्र की समाराधना द्वारा होता है। उच्च सयमी ही ध्यान करने की योग्यता को प्राप्त करता है। विषयासक्त व्यक्ति ध्यान का पूर्ण रूप से अपात्र है।

रयणत्तय माराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणा विहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्यः ।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥

रत्नत्रयकी आराधना करने वाले जीव को आत्मा का आराधक जानना चाहिये। यह आराधना का विधान है। इस रत्नत्रय की आराधना के फल स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त होता है।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोय-दरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्ध शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ।।

सिद्ध अर्थात् स्वात्मोपलब्धि संपन्न शुद्ध आत्मा को जिनेन्द्र भगवान ने सर्वज्ञ, तथा सर्व लोकदर्शी कहा है। उस आत्माको तुम्हे केवलज्ञान रूप जानना चाहिये, कारण ज्ञान आत्मा से अभिन्न है।

विशेष—व्यवहारनय से आत्मा सर्वज्ञ है। निश्चयनयसे वह सर्वज्ञ नही है, वह आत्मज्ञ है। (देखो नियमसार गाथा १६०)

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवर मएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदिपरं ण संदेहो ।।३६।।

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।
स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न संदेहः ।।

जो जिनेश्वर कथित मार्ग से रत्नत्रय की आराधना करता है, वह योगी अपनी आत्माका ध्यान करता है, तथा कर्मरूप पर पदार्थ का त्याग करता है। इसमें कोई भी संशय की बात नही है।

जं जाणइ तं णाणं तं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्ण पावाणं ।।३७।।

यज्जानाति तज्ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शन ज्ञेयम् ।
तच्चारित्रं भणितं परिहारो पुण्यपापानां ।।

जो जानता है वह ज्ञान है। आत्मा जानता है, इसलिए आत्मा ज्ञानरूप है। जो देखता है (अवलोकन करता है) वह दर्शन है। उसरूप आत्मा होने से आत्मा ही दर्शन है। पुण्य और पाप अर्थात् शुभ और अशुभ का परित्याग रूप चारित्र ही आत्मा है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप आत्मा है।

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहि ।।३८।।

तत्त्वरुचि सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहार. प्रजल्पित जिनवरेन्द्रैः ।

जीवाजीवादि तत्त्वो में रुचि अर्थात् श्रद्धा सम्यक्त्व है, तत्त्वों का सम्यक् रूपसे विज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा पापक्रिया का परिहार सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

विशेष—यहां महर्षि कुंदकुंद ने तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है जो व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण है। इससे कुंदकुंद स्वामी की दृष्टिमें इस व्यवहार सम्यक्त्व का महत्व स्पष्ट होता है। इस मोक्षपाहुड ग्रंथ में यह कथन करने से इस सम्यक्त्व मे मोक्षहेतुता है, यह बात अवगत होती है।

दंसण-सुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीण पुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥३९॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणं।
दर्शनविहीन पुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥

शंकादि दोष रहित, अष्टांग समलंकृत सम्यग्दर्शन से शुद्ध व्यक्तिको शुद्ध कहा गया है। दर्शन शुद्ध व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन विहीन पुरुष अभीष्ट पदार्थको नही प्राप्त करता है।

इय उवएसं सारं जर मरणहरं खु मण्णए जं तु।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इति उपदेशं सारं जरामरण हरं स्फुटं मन्यते यत्तु।
तत्सम्यक्त्वं भणित श्रमणाना श्रावकाणामपि ॥

यह उपदेश का सार है, वह जरा मरण निवारक है। यही श्रमणों तथा श्रावकों का सम्यक्त्व कहा गया है।

विशेष—इस गाथा से स्पष्ट होता है, कि व्यवहार सम्यक्त्व श्रावक तथा श्रमण दोनों को हितकारी है।

जीवाजीव विहत्ती जोई जाणेइ जिणवर मएणं।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

जीवाजीव विभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन।
तं संज्ञानं भणितं अवितथ सर्वं दर्शिभिः ॥

जीव तथा अजीव के भेद को सर्वज्ञ के शासनानुसार जो योगी जानता है, उसको सत्यदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने सम्यग्ज्ञान कहा है।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयोः ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितेन ।।

जिसका परिज्ञान कर मुनिराज पुण्य तथा पाप का परित्याग करते हैं, उसका घातिया कर्म रहित अरहंत भगवान ने निर्विकल्प समाधि लक्षणयुक्त यथाख्यात चारित्र संज्ञा प्रदान की है।

विशेष—कषाय रहित मुनिराज के यथार्थरूपतायुक्त यथाख्यात चारित्र पाया जाता है। कषाय का अभाव हो जानेसे योग निमित्तसे कर्मों का आगमन होता है। स्थितिवंध अनुभागवंध रहित होनेसे कर्म केवल प्रकृतिवंध, प्रदेशबंध रूप होकर बंध के अनंतर ही निर्जरा को प्राप्त होता है। कषाय का अभाव रहनेसे स्थितिवंधका भी अभाव रहता है।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ।।४३।।

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।
स प्राप्नोति परमपद ध्यायन् आत्मान शुद्धम् ।।

जो रत्नत्रय से भूषित सयमी अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा-निरोध रूप तप करता है, वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ मोक्षरूप परम पदको पाता है।

विशेष—रत्नत्रय युक्त मुनिराज तपश्चरण करते हुए शुद्ध आत्माका ध्यान करनेकी क्षमता प्राप्त करते हैं। इसके द्वारा उन्हे निर्वाण प्राप्त होता है। यहा द्वादश प्रकारके तप का महत्व कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे "तपसा निर्जरा च" (९।३) सूत्रमे कहा है। तप, कर्म निर्जरा तथा संवर का मुख्य साधन है।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तिय रहिओ तहतिएण परियरिओ।
दो दोस-विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ।।४४।।

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः ।
द्वि-दोषविमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ।।

जो योगी मन, वचन, कायसे वर्षा, शीत, ग्रीष्म कालीन योगों को धारण कर सदा माया, मिथ्या, निदानरूप शल्यत्रय रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयसे मंडित होकर रागद्वेषका त्याग करता है, वह परमात्मा अर्थात् सिद्ध स्वरूप आत्माका ध्यान करता है।

मय-माय-कोह-रहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मल-सहाव-जुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

मद माया क्रोध रहितः लोभेन विवर्जितश्च यो जीवः।
निर्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥

जो मद, माया, क्रोध तथा लोभ रहित होकर निर्मल स्वभाव अर्थात् रागद्वेष रूप मलिनता रहित होता है, वह जीव अन्याबाध सुखको प्राप्त करता है।

विशेष—आत्माकी निर्मलता का कारण क्रोधादि कषायो का परित्याग है। कषाय रूप मलिनता के रहते हुए अविनाशी आनदकी प्राप्ति असभव है।

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभाव रहिय मणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्द-परम्मुहो जीवो ॥४६॥

विषयकषायैर्युक्तः रुद्रः परमात्मभाव रहितमनाः।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रा पराङ्मुखो जीवः॥

जो पंचेंद्रियके विषयो में आसक्ति सहित है, क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंसे युक्त है, परमात्मपद की भावना से रहित अंत.करण वाला है तथा जिनेश्वर की मुद्रासे विमुख है ऐसा जीव सिद्धि सुख रहित होता है। सात्यकिपुत्र रुद्रके समान वह आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिके आनंदसे वंचित होता हुआ नरक के दु खों को भोगता है।

जिणमुद्दं सिद्धिसुह हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

जिनमुद्रा सिद्धि-सुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।
स्वप्नेपि न रोचते पुन. जीवा तिष्ठंति भवगहने ॥

जिनेश्वर भगवानने कहा है, कि जिनेन्द्र की दिगम्बरमुद्रा द्वारा ही स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि का आनद नियमसे प्राप्त होता है। जिन जीवोको स्वप्नमे भी जिनमुद्रा अच्छी नही लगती है, वे ससार रूपी वन मे भ्रमण करते रहते हैं।

विशेष—यहा यह स्पष्ट कहा गया है, कि साधुकी दिगम्बर मुद्रा को आदर न देने वाला मिथ्यादृष्टि है। जिनमुद्रा द्वारा ही सिद्धि का आनंद प्राप्त होगा। उसके अभाव मे जीव पांचवें गुण-स्थानसे आगे नही जा सकेगा। "णग्गो वि मोक्ख मग्गो"—नग्नता मोक्षका मार्ग है (सूत्र पाहुड २३)

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ, मलद-लोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलद-लोभेन ।
नाद्रियते नव कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

जिनेश्वर ने कहा है परम आत्मा का ध्यान करने वाला योगी आत्माको मलिनता प्रदान करने वाले लोभ से छूट जाता है । वह साधु नवीन कर्मों को उपार्जित नहीं करता है ।

विशेष—इस कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि जो मुनि लोभ-लालच के अधीन रहता है, वह शुद्ध आत्माके ध्यानका लाभ लेने मे असमर्थ रहता है । उसके ध्यान मे परिग्रह का ही तमाशा दिखाई दिया करता है ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥

भूत्वा दृढचरित्र दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥

जो योगी मलिनता विमुक्त, सम्यक्त्व सहित बुद्धि वाला है, तथा जिसका चारित्र भी शुद्ध है, वह आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पदको प्राप्त करता है ।

विशेष—यहां आचार्य ने दृढ सम्यक्त्व तथा दृढ़ चारित्र का सुयोग परम पद का कारण कहा है । निर्दोष सम्यक्त्व के साथ चारित्र की साधना ही सिद्धि प्रद है ।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्प सम-भावो ।
सो राग-रोस-रहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो ॥५०॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्म स भवति आत्मसमभावः ।
स राग-रोष-रहितः जीवस्य अनन्य-परिणामः ॥

स्वधर्म ही चारित्र है । वह धर्म सर्व जीवो मे समताभाव रूप है । वह समताभाव रागद्वे रहित है तथा वह जीवका अनन्य परिणाम है ।

विशेष—दर्शनपाहुड में कुंदकुंद स्वामीने "दंसण मूलो धम्मो" (गा० २)-धर्मको सम्यग्दर्शन रूप जड युक्त कहा है । मोक्षपाहुड में यहा वे चारित्र को धर्म स्वरूप कहते है । प्रवचनसार मे

भी उन्होंने "चारित्त खलु धम्मो" (गाथा ७) चारित्र धर्म है, यह कहकर चारित्र की व्यापकता प्रतिपादित की है। सम्यक्चारित्र के भीतर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी समाविष्ट रहते हैं। मोक्ष का साक्षात् कारण सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार धर्म का स्वरूप रत्नत्रय रूपमे स्पष्ट होता है। सम्यक्चारित्र की अनेक अपेक्षाओ से नाना प्रकार की परिभाषाए की गई हैं।

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादि विजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतो भवति अन्यः सः।
तथा रागादिवियुक्तः जीवो भवति स्फुट अन्योन्यविधः ॥

जैसे विशुद्धतायुक्त स्फटिकमणि जपा पुष्पादिके सयोगको प्राप्तकर अन्य रूपता को धारण करता है, उसी प्रकार रागादि विकारोसे युक्त जीव रागी, द्वेषी रूप हो जाया करता है।

विशेष—यहा निमित्तकारण का कार्यकारित्व स्पष्ट बताया है। बाहरी पुष्पादि सामग्री रूप निमित्त वश स्फटिकमणि स्वच्छताका त्यागकर अन्यरूप दिखता है इसी प्रकार रागादि का आश्रय पाकर यह जीव विकृत अवस्था को धारण करके अन्य रूपता को प्राप्त करता है।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्त मुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

देवगुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तो।
सम्यक्त्वमुद्वहन्, ध्यानरतः भवति योगी सः ॥

देव तथा गुरु मे भक्ति धारक, साधर्मी जनों तथा महामुनियों के प्रति वात्सल्य भाव धारण करने वाला तथा सम्यक्त्वको शिरोधार्य करने वाला योगी ध्यान का अनुरागी होता है।

विशेष—जिस साधुका जीवन भक्ति, वात्सल्य तथा सम्यक् श्रद्धासे समलकृत रहता है, वह पवित्रात्मा सहज ही ध्यान करने की पात्रता को प्राप्त हो जाता है। भक्तिका जीवन शोधन कार्य मे महत्वपूर्ण स्थान है। जिनेश्वर की भक्ति मोक्षदायिनी है। (भावपाहुड गाथा १५१)

उग्ग-तवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि।
तं णाणी तिहिंगुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥५३॥

उग्रतपसा अज्ञानी यत्कर्म क्षपते भवैर्बहुकैः।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अंतर्मुहूर्तेन ॥

अज्ञानी मुनि घोर तप करता हुआ बहुतसे भवोंमे जितना कर्म-क्षय करता है, उतनी कर्म निर्जरा ज्ञानी मुनि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति युक्त होता हुआ अंतर्मुहूर्त काल में करता है।

विशेष—यहां यह बात ध्यान देने योग्य है, कि ज्ञानी मुनि जो अत्यन्त अल्प समयमें महान निर्जरा करता है, उसका कारण मन, वचन, काय की क्रियाओ का, जिनके कारण आस्रव होता था, निरोध रूप गुप्ति है। यह गुप्ति त्रयोदश प्रकार के चारित्र मे गर्भित है। तीन गुप्ति, पच समिति, पंच महाव्रत रूप त्रयोदश प्रकारका चारित्र कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि चारित्र मे कर्मों का क्षय करने की अद्भुत क्षमता है। शुक्ल ध्यान से कर्मोंका नाश होता है। वह ध्यान अतरग तप रूप है तथा वह तप चारित्र मे अतर्भूत है। इससे सम्यक्चारित्र की महिमा सिद्ध होती है। अविरत सम्यक्त्व से आगे के देशसयतादि से अयोगी जिन पर्यन्त गुणस्थान चारित्रके विकास पर आश्रित है।

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥५४॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः।
स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः॥

जो साधु शुभ अर्थात् मनोज्ञ पदार्थों के संयोग को प्राप्त कर रागवश पर द्रव्यमे प्रीति रूप सुभाव को धारण करता है, वह अज्ञानी हो जाता है। ज्ञानी का स्वरूप इससे भिन्न होता है।

विशेष—ज्ञानी आत्मा मनोज्ञ पर पदार्थों मे अनुराग भाव नही धारण करता है। पर पदार्थों मे आसक्त होने वाला अनेक शास्त्रो का ज्ञाता होते हुए भी आगम की दृष्टि मे अज्ञानी है। उसे अध्यात्मशास्त्रो में मूढ भी कहा गया है।

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥५५॥

आस्रवहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारणं भवति।
सः तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः॥

निर्विकल्प समाधि बिना मोक्ष हेतुक रागभाव आस्रव का कारण है, इस कारण मोक्षकी अभिलाषा करने वाला निर्विकल्प समाधिरूप आत्म स्वभाव से विपरीत अज्ञानी है।

विशेष—मोक्षकी अभिलाषा रूप राग भाव भी मोक्ष प्राप्ति मे बाधक है; अतः निर्विकल्प समाधि के लिए साधुको सर्व प्रकार की अभिलाषाओ का त्याग करना आवश्यक है। शुद्धोपयोगी

शुक्लध्यानी यथाख्यात् चारित्र को प्राप्त कर मोह जनित समस्त अभिलाषाओं से छूटता है। सूक्ष्म-सापराय गुणस्थानमे भी सूक्ष्मलोभवश इच्छा का सद्भाव पाया जाता है।

जो कम्मजाद-मइओ सहाव-णाणस्स खंड दूसयरो ।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासण दूसगो भणिदो ॥५६॥

यः कर्मजात-मतिकः स्वभावं ज्ञानस्य खण्ड दूषणकरः ।
सः तेन तु अज्ञानी जिनशासन दूषको भणितः ॥

कर्मोदय जनित बुद्धिवाला होने से अल्पज्ञ होनेके कारण जो आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव को दूषित ठहराता है, वह अज्ञानी है तथा जिनशासन को दूषित करता है।

विशेष—जो इद्रिय जनित ज्ञानको ही सत्यमानकर केवलज्ञान रूप अतीन्द्रिय ज्ञान के सद्भाव का निषेध करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जीव मोक्ष न जाकर कुगतिगामी होता है।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं ।
अण्णेसु भाव रहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ।५७॥

ज्ञानं चरित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः सयुक्तम् ।
अन्येषु भावरहित लिंगग्रहणेन किं सौख्यम् ॥

चरित्रहीन ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा विरहित तथा तप संयुक्त ज्ञान, मुनि जीवन की आवश्यक आदि क्रियाओं मे भाव नही रहना तथा आत्म भावना रहित जिनमुद्रा धारण करने मात्र से क्या मोक्षसुख प्राप्त होगा ?

विशेष—सच्चा मोक्षका सुख किन्हे नही प्राप्त होगा, इस विषयमे आचार्य कहते हैं कि चारित्र रहित ज्ञानवान्, ज्ञानी तथा तपस्वी होते हुए भी सच्ची श्रद्धारहित, मुनिजीवन की क्रियाओ का पालन तथा आत्म भावना शून्य मुनि वेषी व्यक्ति को मोक्षका सच्चा सुख नही प्राप्त होगा।

अच्चेयण पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यः मन्यते स भवति अज्ञानी ।
सः पुनः ज्ञानी भणितः यः मन्यते चेतने चेतनम् ।

जो चेतयिता-जीवको चैतन्यशून्य अचेतन मानता है, वह अज्ञानी है। जो जीवको चैतन्ययुक्त मानता है, वह ज्ञानी कहा गया है।

विशेष—सांख्य दर्शन में पुरुष (आत्मा) को चैतन्य अर्थात् ज्ञान गुण वाला नहीं माना है। वहां बुद्धि तत्वकी अचेतन प्रकृति मे गणना की गई है। "चेतना लक्षणो जीवः" यह जिनागम की देशना को अमान्य करने वाला एकान्तवादी अज्ञानी कहा गया है।

तवरहियं जं णाणं णाण-विजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाण तवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥
तपरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपोपि अकृतार्थं।
तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥

तप रहित ज्ञान, ज्ञान रहित तपश्चर्या भी अकृतार्थ है अर्थात् मोक्षप्रद नहीं है। अतः ज्ञान सहित तथा तप संयुक्त आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष—कोई २ अविवेकी तपस्या का महत्व न समझते हुए उसे व्यर्थ मानते हैं तथा ज्ञान मात्रसे मोक्ष की उपलब्धि सोचा करते हैं, उन्हे निम्न लिखित इस गाथा के रहस्य पर ध्यान देना चाहिये।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥
ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुष्कज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम्।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोपि ॥

जिन तीर्थंकर की मोक्ष प्राप्ति निश्चित है, वे दीक्षा धारण करने के पश्चात् मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान रूप चार ज्ञान सपन्न होते हुए भी तप को अगीकार करते हैं, इस तत्वको जानकर ज्ञानयुक्त होते हुए भी तपश्चरण करना चाहिये।

विशेष—आगम मे ज्ञान को प्रकाशदाता तथा तपको शोधक कहा है। तपके द्वारा दोषोंका क्षय होता है। महावीर भगवानके विषयमें महर्षि गौतम गणनायक ने कहा है, "वीरस्य घोरं तपः"—वीर भगवान ने भीषण तप किया था। समतभद्रस्वामी ने भगवान कुंथुनाथ के स्तवनमे कहा है।

वाह्य तपः परमदुश्चर माचरस्त्व। आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥

भगवन्! ध्यानरूप अन्तरग तपकी वृद्धि के लिये आपने अत्यन्त दुर्धर बाह्य तपस्या की थी।

आदिनाथ भगवान ने दीक्षा लेते हुए छह माह के उपवास की प्रतिज्ञा ली थी। (तथा आगे छह माह से अधिक काल पर्यन्त आहार का योग न मिला) इससे जीवन शोधन हेतु तपस्या के महत्व

को स्वीकार करना विवेकीका कर्त्तव्य है। जो शरीर की खूब सेवा करते हुए आत्मा की चर्चा मात्रसे मोक्ष की प्राप्ति सोचते हैं, उन महामूढ मतिओको आचार्य कुंदकुंद समझाते है, कि महान ज्ञानी तीर्थंकरों ने घोर तप किया है; अतः मुमुक्षु को तपके विषय मे यथाशक्ति प्रयत्नशील रहना चाहिये। तपस्या का तिरस्कार करने वालो को मोक्ष की प्राप्ति असभव है। आत्मशुद्धि के लिये तपकी आवश्यकता है। तप रूप अग्नि द्वारा दोषो का क्षय होता है। सुभाषित हो—

आत्मशुद्धिरिय प्रोक्ता तपसैव विचक्षणैः ।
किमाग्निना विना शुद्धिरस्ति काचन शोधने ॥

ज्ञानी जनो ने यह आत्मशुद्धि तपके द्वारा ही साध्य कही है। सुवर्ण के शोधन का कार्य क्या अग्नि के विना होता है? दशलक्षण धर्म पूजा की ये पक्तिया मार्मिक है—

तप चाहे सुरराय, कर्म शिखरको वज्र सम ।
द्वादश विधि सुखदाय क्यों न करे निज सकति सम ॥

मोही शरीरासक्त व्यक्ति तप के महत्व को नही समझता। मिथ्यात्वोदयवश हो वह ज्ञानके ही गीत गाता फिरता है। तपशत्रु मोक्ष नही पाता।

बाहिर लिंगेण जुदो अभ्यंतर लिंगरहिद परियम्मो ।
सो सगचरित्त भट्ठो मोक्खपह-विणासगो साहू ॥६१॥

बहिर्लिंगेनयुतो अभ्यंतरलिंगरहित परिकर्म्मा ।
स स्वकचरित्र भ्रष्टः मोक्षपथविनाशक. साधु. ॥

जो साधु बाह्य दिगम्बर मुद्रा युक्त है, किन्तु आत्म स्वरूप भावना रूप अभ्यतर संस्कार रहित है, वह आत्म चरित्र से गिरा हुआ है तथा वह मोक्षमार्ग का विनाशक है।

विशेष—बाह्य जिनमुद्रा धारण के साथ आध्यात्मिक दृष्टि को नही भुलाना चाहिये। आध्यात्मिक दृष्टि के विना मोक्ष की प्राप्ति असभव है। आध्यात्मिक साधक को कष्ट सहने का भी अभ्यास करना चाहिए, इस तत्त्वको सकारण स्पष्ट करते हैं।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबलं योगी आत्मा दुःखैः भावयेत् ॥

भोजनादि सामग्री द्वारा सुखोपभोगी ज्ञानवान व्यक्ति भोजनादि की अप्राप्तिरूप दुःख की परिस्थिति आने पर आत्मभावना से च्युत हो जाता है। इससे योगीका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्तिके अनुसार आत्माको कायक्लेश तप द्वारा कष्ट सहनेका अभ्यासी बनावे।

विशेष—जो श्रमण यथाशक्ति कायक्लेश के अभ्यास से दूर रहकर पुण्योदय से प्राप्त अनुकूल सामग्री का उपभोग करते है, वे विचित्र कर्मोदयवश संकटकाल में भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि कपूर की तरह उड जाती है, वे आर्त ध्यान द्वारा कष्ट पाते हैं और मरण कर कुगतिके दुःख भोगते हैं। इससे कष्ट सहनेका अभ्यास आत्मसाधकके लिए परमहितकारी कार्य है। शरीरसे भिन्न आत्मा की बाते करने वाला, किन्तु यथार्थ में देहासक्त व्यक्ति तप और सयम से घवड़ाता है, क्योकि उनसे उसके प्रिय शरीर को कष्ट होता है।

आहारासण-णिद्दा जयं च काऊण जिणवर मएण।
णायव्वो णिय अप्पा णाऊणं गुरुपयासेण ॥६३॥

आहारासन-निद्रा जप च कृत्वा जिनवरमतेन।
ज्ञातव्यो निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

आहार त्याग, आसन की दृढता, निद्रा का जप आदि को जिनागम की देशना के अनुसार करे। तथा गुरु के प्रसाद से आत्मा को जानकर आत्मा का ध्यान करे।

विशेष—आत्मज्ञानी गुरु के अनुभव पूर्ण मार्ग दर्शन से श्रमण आत्मज्ञान का यथार्थ रहस्य समझता है। अधकारमें रहने वाले व्यक्ति को जिस प्रकार दीपक के द्वारा पदार्थों के परिज्ञान मे सहायता प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रकाश प्रदाता गुरु के द्वारा अज्ञानका अधकार दूर होता है। इससे उस एकान्तवाद का परिहार होता है, कि बाह्य वस्तु के द्वारा जीव का कुछ भी लाभ नही होता। स्याद्वाद के प्रकाशमे जिनागम का महत्व समझने का प्रयत्न हितप्रद होता है।

अप्पा चरित्तवंतो दंसण-णाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा।
स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

गुरुप्रसाद से दर्शन तथा ज्ञान से युक्त चारित्रवान पुरुष को आत्मा का परिज्ञान प्राप्त करके सदा उस आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

विशेष—आत्महित साधनामें रत्नत्रय मूर्ति दिगम्बर गुरु का शरण ग्रहण करना महान हित प्रद रहता है। एक अपेक्षा से कहा जाता है, कि "आत्मैवगुरुरात्मन.", किन्तु जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए गुरु की चरणोपासना अपूर्व सिद्धि प्रदान करती है। बोधपाहुडमे कुंदकुंद स्वामी ने श्रुतज्ञानी द्वादशांगवेत्ता भद्रबाहु गुरु को भगवान कहकर उनके प्रति आदर भाव व्यक्त किया है।

बारस अग वियाण-चउदस पुव्वग विउल वित्थरण।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥ बोधपाहुड

चतुर्दश पूर्वांग रूप विपुल विस्तारयुक्त द्वादशाग के ज्ञाता, गमक-गुरु भगवान भद्रबाहु गुरु जयवंत हो।

इस कथन द्वारा कुंदकुंद स्वामी व्यवहार दृष्टिको मुख्यता प्रदान करते है। दधि मथन करने वालो ग्वालिन मंथन-दण्डकी एक तरफ की रस्सी को कभी खेचती है, तो दूसरे तरफ की रस्सी को ढीली कर देती है, इस प्रकार कभी दूसरी तरफ की रस्सी को खेचती है, और पूर्व की रस्सी को ढीला करती है। इसी प्रकार जैन धर्म मे कभी व्यवहारनय प्रधान, कभी निश्चय नय प्रधान रूप से तत्त्व की प्रतिपादना की गई है। इस स्याद्वाद की कला को भुलाने वाला कष्ट में फसता हुआ कुगति मे जाता है। सम्यग्ज्ञान का अग होने से सत्यज्ञानपना जैसा निश्चय नयमें है, वैसी ही सत्यता व्यवहार नयमे भी है। इस विवेचन के प्रकाशमे गुरुका महत्व ध्यानमें रखते हुए यह बात अवधारण करनी चाहिये, कि व्यवहारनय की अपेक्षा गुरु को गौरव प्रदान किया जाता है, निश्चय नयकी दृष्टि से आत्मा को ही गुरु माना गया है। अपनी अपनी अपेक्षा से दोनो दृष्टियां यथार्थ है। शास्त्रारभ करते समय गुरु को प्रणाम किया जाता है।

"अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाजनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवेनम."।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भाविय सहाव पुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥६५॥

दु.खेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दु.खम्।
भावित-स्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥

आत्माका परिज्ञान करना महान कठिन बात है, आत्मा को जानने के पश्चात् उस आत्मा की भावना (वासना, निरतर चिंतनादि) कष्ट से होती है। आत्मा-की भावना करने वाला पुरुष कठिनता से विषयो से विरक्त हो जाता है।

विशेष—अनुभव विहीन व्यक्ति क्षणभर मे आत्मज्ञानी बनने की वात सोचता है, किन्तु वास्तवमें यह कार्य अत्यन्त कठिन है। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि ये चार सम्यक्त्व की प्राप्ति में सहायक लब्धिया बहुत वार प्राप्त होती है, किन्तु करण लब्धि का पाना महान कठिन है। उसके होने पर ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हुआ करते हैं। करणलब्धि न मिलने से मरीचिकुमार को भरतेश्वर जैसे तत्वज्ञानी चक्रवर्ती पिता, आदिनाथ तीर्थंकर समान पितामह, सम्यक्त्वी न बना सके। करीब एक कोडा कोडी सागर काल बीत जाने पर करणलब्धि आ जाने से क्रूर सिंहकी पर्याय मे उस जीव को सम्यक्त्वरूप महानिधि मिल गई, तथा आगे वह आत्मा तीर्थंकर महावीर रूपमे विश्व पूज्य हुई।

इस कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति का समुचित मूल्याकन करना कर्तव्य है। बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है, कि सम्यक्त्वके साधनो का शरण लेता हुआ सत्प्रवृत्तियों मे अपना समय व्यतीत करे। सस्ता सम्यक्त्व खोटे मोती के समान है। कुछ समय के पश्चात् खोटा मोती दीप्तिशून्य हो जाता है, ऐसी ही हालत सस्ते सम्यक्त्व की होती है, और उसको धारण करने वाला महाप्रमादी मिथ्यात्वी मरण के उपरान्त नरक या पशुगति की विपत्तिया भोगता है।

जीवित और प्राणहीन व्यक्तिमें जैसे अन्तर दिखजाता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व की ज्योति से प्रकाशित आत्मा अथवा ढोगी का भी भेद स्पष्ट हो जाता है। कुंदकुंद स्वामी कहते है—

ताम ण णज्जए अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत्।
विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम्।

जब तक मानव विषय भोगो मे आसक्ति धारण करता है, तव तक वह आत्माको नही जानता है। जो मुनिराज विषयो से विरक्त मनवाले होते हैं वे आत्मा को जानते हैं—"महामुनि रात्मान जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति" (श्रुतसागरी टीका)। महामुनि आत्माको जानता है, अर्थात् प्रत्यक्षरूपमे आत्माका दर्शन करता है।

विशेष—जिसका मन बहिर्जगत में आसक्त है, वह आत्मदर्शन से वंचित रहता है। समाधि शतकमे पूज्यपाद स्वामी की यह शिक्षा मार्मिक है।

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहित ज्योतिरन्तरे।
तुष्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

मूढात्मा अंतर्ज्योति के ढंक जाने से बहिर्जगत् के पदार्थों में तृप्त होता है, किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रति आकांक्षा रहित प्रबुद्धात्मा अपनी आत्मा में तृप्ति को पाता है।

आचार्य कुंदकुंद ने इस गाथा द्वारा ऐसे लोगो को मूढात्मा बताया है, जो विषय तथा कषाय के गुलाम होते हुए अपने को परम आध्यात्मिक कहते हैं तथा अज्ञ वर्ग की प्रशसा पाते हैं।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भाव-भाव-पब्भट्ठा ।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित् सद्भाव-भाव-प्रभ्रष्टाः ।
हिंडन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिताः मूढाः ॥

कोई बहिरात्मा जीव आत्मा का परिज्ञान प्राप्त करके समीचीन भाव अर्थात् शुद्ध बुद्ध आत्मा की भावना से भ्रष्ट होते हुए विषयो मे आसक्ति धारण करते हैं, ऐसे मूढ मनुष्य चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण किया करते हैं।

विशेष—विषयो की लालसा कभी भी मोक्ष नही दे सकती है। वह संसार में भ्रमण कराती है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणा सहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

ये पुनः विषयविरक्ता-आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
त्यजन्ति चातुरंगं तपोगुणयुक्ता न सदेहः ॥

जो आत्माका परिज्ञान प्राप्त कर आत्म भावना सहित होते हुए विषयो से विरक्त होते हैं तथा द्वादशविध तप और अष्टाविंशति मूलगुणादि को धारण करते है वे चतुर्गति संसार मे परिभ्रमण नही करते हैं। इस बात मे सदेह नही करना चाहिये।

विशेष—इसकाल मे ऐसे भी जीव पाये जाते हैं, जो अपने को आत्मविद्या का पारदर्शी महाज्ञानी मानते हुए त्याग, और सदाचार सपन्न सत्पुरुषो से घृणा करते है तथा वे तप, त्याग आदि को अपने जीवन मे तनिक भी स्थान नही देते है, उन्हे महर्षि कुंदकुंद मूढात्मा कहते हैं। आचार्य ऐसे आत्मज्ञानियों की प्रशसा करते हैं, जिनकी आत्मा तप, सयमादि से पवित्र है तथा जो विषय भोगोंसे पूर्ण विरक्त हैं। विषयादि के प्रति आसक्ति का सद्भाव शुद्धात्मोपलब्धि मे महान बाधक है।

परमाणु पमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥६९॥

परमाणु प्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।
स मूढोऽज्ञानो आत्मस्वभावाद्विपरीत: ।।

जिसके मोहनीय कर्म के कारण पर पदार्थ में परमाणु मात्र भी राग पाया जाता है वह मूढ तथा अज्ञानी आत्म स्वभाव से विपरीत परिणामवाला हो जाता है।

विशेष—शुद्धोपयोगी तथा शुक्ल ध्यान को धारण करने वाले महा मुनियोके सूक्ष्म सापराय नामके दशमे गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ रहने से वे यथाख्यात चारित्र को नहीं प्राप्त करते हैं। सूक्ष्म लोभका सद्भाव रहने से उनके कर्मोंका बध भी होता रहता है। हिन्दी में रचित विद्वानो की अनेक रचनाओ मे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्त्वी को ही बध रहित निरूपण किया गया है। इससे लोग यह समझ बैठते है कि जीवन मे सम्यक्चारित्रका कोई मूल्य नही है। इस महान भ्रान्तिका निवारण यहा किया गया है, कि राग का सूक्ष्मांश भी जीवको अज्ञानी बना देता है। समयसार की यह गाथा उपयोगी है—

परमाणुमित्तय पि हु रायादीण तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणय तु सव्वागमधरोवि ।।२०१।।

जिसके परमाणु मात्र भी राग द्वेप भाव का सद्भाव पाया जाता है, वह सर्वागम का ज्ञाता होते हुए भी शुद्ध आत्माको नही जानता है।

पचास्तिकाय मे कहा है—

जस्स हिदये-णुमत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ।।१६७।

जिसके हृदय मे परमाणु मात्र भी परद्रव्य के विषय मे रागभाव पाया जाता है, वह सर्व शास्त्रो का ज्ञाता होते हुए भी अपनी आत्माको नही जानता है।

इस गाथा की टीका मे अमृतचद्र सूरि आत्मा के विषय में इस प्रकार खुलासा करते हैं, "निरुपराग शुद्ध स्वरूप स्व समयं" रागरहित शुद्ध स्वरूप स्व समय को वह महाज्ञानी नही जानता है, जिसके हृदय मे रागकी रेणु कलिका का भी सद्भाव पाया जाता है।

समयसार की यह वाणी भी मनन करने योग्य है।

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्त णाणगुणो तेण दु सो बधगो भणिदो ।।१७१।।

ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप से परिणमता है, इस कारण वह ज्ञानगुण बधक कहा गया है। इस गाथाकी टीका मे अमृतचद्र सूरि कहते हैं "यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यभावि

रागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्" यथाख्यात चारित्ररूप अवस्था के नीचे रागका नियम मे सद्भाव होने के कारण जीवके परिणाम बंध के कारण है।

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के बाद जब जीव उपशान्तकषाय अथवा क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्तकर यथाख्यात चारित्र युक्त होता है, तब कषायका उपशम अथवा क्षय हो जाने से स्थिति तथा अनुभाग बंध नही होते। अध्यात्म शास्त्र मे ज्ञानी शब्द का पुनः २ उल्लेख आता है। हिन्दी भाषा के प्राचीन कवियो आदि ने ज्ञानी शब्द को अविरत सम्यक्त्वी का वाचक सोचकर उसकी अत्यधिक स्तुति की है। आचार्य परंपरागत आर्ष वाणी में सूक्ष्मसांपराय नामक दशम गुणस्थान वाले महामुनि को जघन्य ज्ञानगुण परिणमन वाला कहते हुए उसे कर्मों का बंधक माना है।

क्षुद्रक बंध नामक षट्खंडागम सूत्र के दूसरे खण्ड में कहा है, "सम्मादिट्ठी बंधा वि अत्थि, अबंधा वि अत्थि (२-१-३६) केवलणाणी बंधा वि अत्थि अबंधा वि अत्थि (सूत्र २३) सम्यक्त्वी के बंध होता है, सम्यक्त्वी के अबंध भी होता है। चौथे से तेरहवें गुणस्थान तक बंध के कारण पाये जाने से बंध माना है, अयोगकेवली रूप चौदहवें गुणस्थान के सम्यक्त्वी को बंध रहित कहा है।

इस विवेचन के प्रकाश मे यह स्पष्ट हो जाता है, कि सपूर्ण परिग्रह का त्याग करने पर भी मुनिराज के अणुरूप भी रागभाव का जब तक विनाश नही होता है, तब तक यह सूक्ष्म राग बंधका कारण होगा। क्षीणकषाय गुणस्थान वाले मुनिराज को सच्चा निर्ग्रन्थ माना गया है। यथाख्यात चारित्र समलकृत निर्ग्रन्थ के कषायजनित बंधका अभाव होता है। अत. चतुर्थ गुणस्थान वाले को ज्ञानी मानकर उसको सासारिक प्रपंचमें फसे हुए देखकर भी सर्वथा बंध रहित मानने की विपरीत मान्यता सशोधन योग्य है। चौथे गुणस्थान वाले जीव के पास दूजका चन्द्रमा समान प्रकाश है, केवलज्ञान अवस्था वाले पूर्ण चन्द्रमा की ज्योतिर्मयी स्थिति युक्त सम्यक्त्वी की स्थिति उसके पास नही है।

कोई २ व्यक्ति इस पंचमकाल मे एक बार सम्यक्त्व हो जाने पर उसका क्षायिक सम्यक्त्व सदृश सदा ही सद्भाव सोचते हैं।

यह एकान्त धारणा ठीक नही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है* इस काल मे उपशम तथा क्षयोपशम ये दो सम्यक्त्व हो सकते हैं। उपशम सम्यक्त्व तो अतर्मुहूर्तबाद अस्तगत हो जाता है, क्षयोपशम सम्यक्त्व यदि रहा, तो जीवन भर भी रहा आवे, नही तो वह असख्यातबार उत्पन्न तथा विनष्ट होता रहता है।

---

* गेण्हदि मुंचदि जीवो वे-सम्मत्ते असखवाराओ।
पढमकसाय विणास देसवय कुणइ उक्किट्ठं ॥२१०॥

मोह का सूक्ष्मांश भी शुद्धात्मोपलब्धि में बाधक है, ऐसा अभिप्राय कुन्दकुन्द स्वामी ने व्यक्त किया है। गृहस्थ के सर्वविरति न होने से राग का संयोग रहने से अशुद्धात्मोपलब्धि होती है। प्रवचनसार गाथा २५४ की टीका मे अमृतचंद्रसूरि ने कहा है "गृहिणां नु समस्तविरतेर भावेन रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात्" ... .

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

आत्मानं ध्यायता दर्शनशुद्धीना दृढचरित्राणां ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्ताना ॥

जिनका चित्त विषयो से पूर्णतया विरक्त है, जो आत्मा का ध्यान करते हैं, जिनका सम्यग्दर्शन निर्मल है तथा जिनका चारित्र सुदृढ है, वे महर्षि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

विशेष—यहा आत्मध्यानी साधु के लिए तीन बातें आवश्यक बताई हैं। विशुद्ध सम्यग्दर्शन, निर्मल चारित्र तथा विषयो के प्रति पूर्ण विरक्ति के भाव। इस सामग्री युक्त आत्मध्यानी मुनियो को मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रमादी, भोगासक्त व्यक्ति आत्मा की चर्चा मात्र से मुक्त होने की अविवेकता-पूर्ण बातें करता फिरता है।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणा वि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥७१॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥

परद्रव्यो मे राग भाव संसार का कारण है, इस कारण योगी को पर पदार्थों मे राग भाव का त्याग कर आत्मा मे स्वभावना करनी चाहिये।

विशेष—राग का सद्भाव सूक्ष्मसापराय दशम गुणस्थान तक पाया जाता है, यह विशिष्ट बात ध्यान मे रहनी चाहिए।

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥

निंदाया च प्रशंसाया दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणा चैव बंधूना चारित्र समभावतः ॥

निन्दा, प्रशंसा, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र मे समताभाव धारण करना चारित्र है।

विशेष—यहा आचार्य उन दिगम्बर मुनिको उपदेश दे रहे हैं, जिनके अट्ठाईस मूलगुण रूप द्रव्यचारित्र विद्यमान है। ऐसे साधुको समता भावरूप यथाख्यात चारित्र पर समारूढ होने की प्रेरणा दी गई है। मोह, राग, द्वेष के पंकमे फंसा हुआ गृहस्थ समता की बढिया बातें कर सकता है, किन्तु वह उस समता को स्वप्न में भी नही पा सकता है। जब जीवन विषमतासे परिपूर्ण है, तब समता की कल्पना असंभव है। ऐसे व्यक्ति का हित समतारूप अमृतपान करने वाले श्रमणो के चरणो की वंदना, पूजा तथा हृदयसे भक्ति करना है। समता शैल के शिखर पर आरूढ होने की पात्रता यथाख्यात चारित्रधारी महामुनियो के पाई जाती है। टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने लिखा है, "समतापरिणामे सति चारित्रं भवतीति निर्विकल्पसमाधिरूप यथाख्यात चारित्रं भवति"—समता परिणाम होने पर चारित्र होता है, अर्थात् निर्विकल्प समाधि रूप यथाख्यात चारित्र होता है। पंचमकाल मे यथाख्यात चारित्र का असद्भाव होने से पूर्ण समता भाव रूप चारित्र नही हो सकता है। शुक्लध्यानी मुनि ही निर्विकल्प समाधि रूप पूर्ण समता को प्राप्त करते है। उस समता की चर्चा सरल है, किन्तु उसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। इस कालमे तो मुनियो के लिए भी असंभव है।

चरियावरिया वदसमिदि वज्जिया सुद्धभाव-पब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाण जोगस्स ॥७३॥

चर्यावरिया व्रतसमिति वर्जिता शुद्धभाव प्रभ्रष्टाः।
केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो ध्यानयोगस्य ॥

चारित्र के आवरण करने वाले चारित्र मोह कर्मोदय के अधीन, व्रत, समिति शून्य, शुद्ध भाव से भ्रष्ट कोई पुरुष कहते हैं, यह काल ध्यान-योग के अनुकूल नही है।

विशेष—चारित्र मोह का उदय होने पर मनुष्य चारित्र धारण करने मे असमर्थ हो जाता है।

सम्मत्त-णाण रहिओ अभव्व जीवो हु मोक्ख परिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो णहु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्य जीवो हि मोक्ष परिमुक्तः।
ससारसुखे सुरतः न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रहित, मोक्षसे परिमुक्त अर्थात् जिसके मोक्ष नही होगा ऐसा संसार के भोगोमे डूबा हुआ अभव्य जीव कहता है, कि यह काल ध्यान के योग्य नही है।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

पंचसु महाव्रतेपु च पचसु समितिपु तिसृपु गुप्तिसु ।
यो मूढो अज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ।।

जो पचमहाव्रत, पंचसमिति तथा तीन गुप्तियों के विषय मे विवेकरहित मूढभाव धारण करता है, वह अज्ञानी कहता है, कि यह काल ध्यान के योग्य नही है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।७६।।

भरते दुःपमकाले धर्म्यध्यानं भवति साधोः ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ।।

इस दु षमकाल युक्त भरतक्षेत्र मे आत्म स्वभाव मे स्थित अर्थात् आत्मभावना मे निमग्न मुनिराज के धर्मध्यान होता है। इसे जो नही मानता है, वह अज्ञानी है।

विशेष—इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि शुक्लध्यान रूप शुद्धभाव इस काल में निषिद्ध है। मुनियो के भी धर्मध्यानरूप शुभभावका सद्भाव आगममे स्वीकार किया गया है। इस प्रकाग मे गृहस्थो के शुद्धोपयोग, शुद्धभाव तथा शुद्धभावसे सबधित निश्चयनय का सद्भाव सोचना सर्वज्ञ शासन के विपरीत है।

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं ।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ।।७७।।

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मान ध्यात्वा लभन्ते इंद्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्व ततः च्युत्वा निर्वाणं यांति ।।

इस काल मे उत्पन्न व्यक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप निर्मल रत्नत्रय से अलकृत हो अपनी आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपना अथवा लौकान्तिक देवकी अवस्थाको प्राप्त करते हैं। इसके अनतर वहा से चय करके वे मानव होकर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर मोक्ष जाते हैं।

विशेष—इस काल का मानव चरम शरीरी अर्थात् उसी भव से मोक्षगामी नही होता है। इस कारण वह जीवन को उज्ज्वल बनाते हुए शुभभाव के प्रभाव से सुरेन्द्र होता है अथवा एक भव धारण कर आगामी भव मे नियम से मोक्ष जाने वाला देवर्षि रूप लौकान्तिक देव होता है। लौकान्तिक देव स्वर्ग मे रहते हुए भी वैभव तथा भोगो से अत्यन्त विरक्त रहते है। पचम स्वर्ग मे देवागनाओ का सयोग होता है, किन्तु लौकान्तिक देवो के देवागनायें नही पाई जाती। इनके हृदय मे महान वैराग्य ज्योति सदा

प्रकाशमान होती रहती है। इसी कारण ※इन्हें भगवान तीर्थंकर देवके गर्भ, जन्म कल्याणक का वैभव, विभूति अपनी ओर आकर्षित नही कर पाती। ये वैराग्य मूर्ति भगवान के चित्तमे वैराग्य के विचार उत्पन्न होते ही स्वय आकर उनकी वैराग्य भावना को प्रदीप्त करते हैं। इनकी सख्या चार लाख सात हजार आठ सौ वीस कही गई है।

चतुर्लक्षा' सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं।
विंशति र्मेलिता एते बुधै र्लौकान्तिका मताः॥

शंका—कोई २ सोचते हैं, इस काल मे सभी मुनि नही होते हैं?

समाधान—यह धारणा आगम बाधित है। अभी तो पचमकाल के करीब अढाई हजार वर्ष बीते हैं, शेष साढे अठारह हजार वर्ष बाकी है। इस पचमकाल के अत तक दिगम्बर जैन मुनिराजो का सद्भाव रहेगा। भाव संग्रह मे※ लिखा है कि चौथे काल के महान शरीरबल युक्त मुनीश्वर एक हजार वर्ष तप करके जितनी निर्जरा करते है, उतनी निर्जरा, इस असप्राप्तासृपाटिका रूप जघन्य संहनन युक्त पचमकालीन मुनिराज एक वर्ष तप द्वारा करते हैं। इस काल मे जितेन्द्रिय मुनि बनने वालो का आत्मबल तथा पवित्र साहस अत्यन्त प्रशसनीय है। ठीक ही कहा है—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
एतश्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नरा'॥

यह दुष्ट प्रवृत्तियो के लिए प्रोत्साहन प्रदाता निकृष्टकाल है, इस काल मे परिस्थितिया चित्त को एकाग्र नही होने देती, शरीर अन्न का कीडा बन गया है; उसकी क्षणक्षण मे इष्ट वस्तु द्वारा सेवा न की गई तो वह आकुल-व्याकुल हो जाया करता है, ऐसी विपरीत स्थिति मे भी यह आश्चर्य की बात है कि महान आत्मा जिनमुद्रा को धारण कर महाव्रती बनते हैं। बुद्धिमान तथा आगमभक्त गृहस्थ का कर्तव्य है कि इस काल मे दिगम्बर श्रमणका समागम पाकर स्वयको धन्य अनुभव करे तथा उनका सत्सग तथा सेवा से अपने को कृतार्थ माने। कालदोष से कोई त्रुटि दिखें, तो सुचतुर व्यक्तियो के द्वारा उनके जीवनको उच्च बनाने हेतु उद्योग करें। उनकी निन्दारूप महा पाप से अपने को बचावे, तथा दूसरो को भी उस नरक मे पतनकारी कुकृत्य से रक्षा करे।

※ ते हीणाहिय-रहिया विसयविरत्ता य देवरिसिणामा।
अणुपिक्ख दत्तचित्ता सेस-सुराणच्च-णिज्जातु॥५३९॥
चोद्दसपुव्वधरा पडिवोहपरा तित्थर-विणक्कमणे।
एदेसि-मट्ठ-जलहिट्ठिदी अरिट्ठस्स णव चेव॥५४०॥ त्रिलोकसार॥

※ वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण।
त सपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणे॥१३१॥

जे पावमोहियमई लिंगं घित्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्ख-मग्गम्मि ॥७८॥

ये पापमोहितमतयः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्।
पाप कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्त्वा मोक्षमार्गे ॥

जो पाप से मलिन बुद्धि व्यक्ति जिनेश्वरकी दिगम्बर मुद्रा को ग्रहण करके हिंसा असत्य आदि पाप कार्यों को करते है वे पापी मोक्षमार्ग से अध.पतित है।

विशेष—यह बात स्मरण योग्य है कि दिगम्बर मुद्रा को धारण करने मात्र से पूज्यता नही प्राप्त होती है। साधु जीवनको समलकृत करने वाली सामग्री पंचमहाव्रत, पचसमिति, आदि मूलगुण दिगम्बर मुद्रावाले पुरुष में आवश्यक है। भावपाहुड मे दिगम्बर वेष मात्र की समीक्षा करते हुए कुंदकुंद स्वामी ने कहा है।

दव्वेण सयलणग्गा णारय तिरिया य सयलसघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भाव-सवणत्तण पत्ता ॥६७॥

द्रव्य रूप से सभी नग्न रहते है, नारकी, पशु तथा सर्व प्राणी वस्त्रविहीन पाए जाते हैं। परिणामो मे अशुद्धता के कारण वे भावलिंगी मुनि की महत्ता को नही पाते है।

णग्गो ण लहइ वोहिं जिणभावणा-वज्जिओ सुइर ॥६८॥

जिन-भावना रहित नग्नव्यक्ति चिरकाल पर्यन्त वोधि-रत्नत्रय को नही प्राप्त करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि दिगम्बरपना स्वय साध्य नही है, वह आत्म निर्मलता मे साधन है। उस जिनमुद्रा को धारणकर जो आगमकी आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करता है, वह जीव अपना अहित करता है। कोई २ मुनिपद धारण करने वाले व्यक्ति आगम की आज्ञा की अवहेलना कर बैठते है, उनका ऐसा कार्य सम्यग्दर्शन का घातक है। कुंदकुद स्वामी ने प्रवचनसार मे कहा है "आगमचक्खू साहू" (२३४ गाथा) साधु के नेत्र आगमरूप हैं। आगमप्राण साधु ही मोक्षमार्गी है। आगमविपरीत श्रद्धा तथा चर्यावाला सच्चा साधु नही है। यह कथन स्मरणीय है—

अन्यलिंगकृत पाप जिनलिंगेन मुच्यते।
जिनलिंग कृत पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥

अन्य वेषमे किया गया पाप जिनेन्द्रमुद्रा धारण करने से छूट जाता है किन्तु जो जिनमुद्राको धारण कर पाप प्रवृत्तियो मे लगता है, उसका पाप वज्रलेप सदृश दीर्घकाल स्थाई हो दुःखदायी होता है।

यह समझना ठीक नही है कि दिगम्बर जैन मुनिका वेष धारण करने मात्रसे कल्याण हो जायगा। जो श्रमणवेषी आगम तथा गुरुपरम्परा के विपरीत स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, वह कुगति मे गिरकर दीर्घकाल पर्यन्त कष्ट भोगेगा। यह वीतराग जिनेश्वरका शासन पूर्णतया दोषरहित है। इसमे पक्षपातपूर्ण कथन का अभाव है।

णिग्गंथ-मोहमुक्का बावीस-परीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्ख-मग्गम्मि ॥८०॥

निर्ग्रन्थ-मोह मुक्ता द्वाविंशति परीषहाः जितकषायाः।
पापारंभविमुक्ताः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

जो निर्ग्रन्थ है, मोहरहित हैं, क्षुधा, तृषादि बावीस परीपहो को सहन करते है, जिन्होने कषायो को वश मे कर लिया है, जो हिंसादि पाप तथा कृषि आदि आरभसे रहित है, ऐसे मुनिराज मोक्षमार्ग मे स्थित हैं।

विशेष—जो व्यक्ति क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि की बाधाओ को सहन करना व्यर्थ मानते है, उनको कुंदकुद ऋषिराज के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, कि मोक्षमार्गी मुनि परीषह विजेता होते है। शरीर को पुष्ट करने हेतु आसक्तिपूर्वक आहारपानमे प्रवृत्त होना साधु जीवन के लिए अकल्याणप्रद बात है।

उद्धद्ध-मज्झ-लोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥

उर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहमेकाकी।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥

उर्ध्व लोक, अधोलोक तथा मध्यलोक मे कोई भी वस्तु मेरी नही है। मैं अकेला हूँ। योगी इस एकत्व भावना के द्वारा अविनाशी सुखको प्राप्त करता है।

विशेष—वेदान्त दर्शन में भी 'एक ब्रह्म' एक ब्रह्म है ऐसा अद्वैत चिंतन माना है, इस भावना के साथ 'द्वितीयं नास्ति' भी कहा गया है। जैन दर्शन मे आत्माको एक माना है किन्तु प्रत्येक शरीरमे जुदी जुदी आत्माए हैं। यह अनुभव समर्थित बात भी कही है। जैनदर्शन अन्य वस्तुओ का निषेध न करके कहता है, 'द्वितीय मम नास्ति'—दूसरे पदार्थ हैं, किन्तु वे मेरे नही हैं। इस प्रकार जैनदृष्टि युक्ति तथा अनुभव से अबाधित है।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेय परंपरा विचिंतंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्ख मग्गम्मि ॥८२॥

देवगुरूणां:भक्ताः निर्वेदपरपरां विचिन्तयंतः ।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

जो अरहत भगवान तथा निर्ग्रन्थ गुरु के भक्त है, जो ससार, शरीर तथा भोगो से विरक्तता की परपरायुक्त मनोवृत्ति धारण करते है, जो ध्यान मे तत्पर रहते है, तथा जिनका चरित्र उज्ज्वल है, वे मुनिराज मोक्षपथ में अवस्थित है ।

विशेष—जिस सत्पुरुष के हृदय मे जिनेश्वरादि के प्रति भक्ति है, जो वैराग्य भावना भूषित है, ध्यान करने मे तत्पर है, तथा चारित्र समलकृत है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट है कि मोक्ष के लिए भक्ति, वैराग्य, ध्यान तथा सदाचार को परम आवश्यकता है। ज्ञान की बाते करनेमात्र से या परब्रह्म की कथनी कर लेने मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति कदापि सभव नही है। समयसार मे कुंदकुंद स्वामी ने कहा है। आत्माका स्वरूप, कर्मबधन का स्वरूप समझो। इसके साथ बध के कारणोंका त्याग करो, तब मोक्ष प्राप्त होगा। बध के कारणो का परित्याग करने पर जीव सम्यकचारित्ररूप रत्न को प्राप्त करता है, वह मोक्ष के लिए जरूरी है।

वंधाणं च सहाव वियाणिओ अप्पणो सहाव च ।
बधेसु जो विरज्जदि सो कम्म विमोक्खण कुणदि ॥२९३॥

णिच्छय णयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः ।
स भवति हि सुचरित्रः योगी स लभते निर्वाणम् ॥

निश्चयनय की दृष्टि से जो आत्मा अपनी आत्मामे स्वय के लिए अत्यन्त अनुरक्त है, वह उज्ज्वल चारित्रयुक्त होता है। वह योगी मोक्षको प्राप्त करता है।

विशेष—आत्मा की आत्मामें लीन होने की बात उज्ज्वल चरित्रवाले योगी के विषय में कही गई है। परिग्रह के जाल मे फसा गृहस्थ ऐसी स्थिति नही प्राप्त कर सकता है। जब तीर्थंकर गृहवास करते हुए स्वमे स्वको स्वके द्वारा पाने मे असमर्थ हुए, तब ही उन्होंने गृहत्यागकर तपोवनका पथ पकड़ा। मुनीश्वर ही आत्मामे वास्तविक तल्लीनता प्राप्त करते हैं। उनके समीप चित्त को चचल वनाने वाली सामग्री नही रहती है। वास्तवमे परिग्रह एकाग्रता मे महान विघ्न उत्पन्न करता है।

पुरिसायारो अप्पा जोई वर-णाण-दंसण-समग्गो ।
जो झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्ंदो ॥८४॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वर-ज्ञानदर्शन-समग्र ।
यो ध्यायति सो योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥

आत्मा पुरुषाकृति रूप है, वह श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन सपन्न है। उस आत्माका जो योगी ध्यान करता है, वह पापका क्षय करता है तथा वह द्वन्द्व रहित शान्त स्थिति को प्राप्त करता है।

विशेष—यहा आत्माका स्वरूप ध्याताके लिए इस प्रकार कहा है, कि शरीर मे स्थित वह आत्मा पुरुषाकार प्रमाण है और वह ज्ञान दर्शन गुण समन्वित है। वह आत्मा शरीर के बाहिर नही है। आत्माका यथार्थ स्वरूप विना समझे जो ध्यान किया जाता है, वह निर्वाणप्रद नही होता।

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाणं पुण सुणसु ।
संसार विणास-यरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

एतत् जिनैः कथित श्रमणानां श्रावकाणा पुन शृणुत ।
संसारविनाशकर सिद्धिकर कारणं परमम् ॥

इस प्रकार उपरोक्त कथन श्रमणो की अपेक्षा किया गया है। अब श्रावको की दृष्टिसे उस बात का कथन करेगे, जो ससार का उच्छेद करता है तथा सिद्धि का श्रेष्ठ हेतु है।

विशेष—यह गाथा विशेप महत्वपूर्ण है। यहा से आगे श्रावको की अपेक्षा विशेष प्रतिपादन करने का निश्चय ग्रथकार ने व्यक्त किया है।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मल सुरगिरीव निःकंप ।
तद् ध्याने ध्यायते श्रावक दुःखक्षयार्थं ॥

हे श्रावक! मेरुपर्वत के समान अविचल, मल दोष रहित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके दुःखक्षय के लिए उस सम्यक्त्व की ओर चित्त स्थिर कर।

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठ-कम्माणि ॥८७॥

सम्यक्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति स जीवः ।
सम्यक्त्व परिणतः पुनः क्षयति दुष्टाष्टकर्माणि ।।

जो सम्यक्त्व को ध्यानगोचर वनाता है, अर्थात् उसकी निरन्तर भावना करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है। वह सम्यक्त्वरूप परिणत श्रावक दुष्ट कर्माष्टक को नष्ट करता है।

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्म माहप्पं ।।८८।।

किं बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गतकाले ।
सेत्स्यंति येऽपिभव्याः तज्जानीत् सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ।।

अधिक कहने से क्या प्रयोजन, इतनी वात ध्यानमे रहनी चाहिए, कि अतीतकालमे जो श्रेष्ठ पुरुष मोक्ष गए तथा आगे निर्वाण प्राप्त करेंगे, यह सब सम्यक्त्व की महिमा है।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा तेवि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिवणे वि ण मलिणियं जेहिं ।।८९।।

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेपि पंडिता मनुजाः ।
सम्यक्त्व सिद्धिकरं स्वप्नेपि न मलिनित यैः ।।

वे पुरुष धन्य है, कृतकृत्य हैं, शूर हैं, पडित है जिन्होने सिद्धि प्रदाता सम्यग्दर्शनको स्वप्नमे भी मलिन नही किया है।

विशेष—यहा आचार्य श्रावकको सबोधन करते हुए सम्यक्त्वका महत्व (गाथा ८६ से ८९) प्रतिपादित करके अब श्रावककी अपेक्षा सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं—

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।।९०।।

हिंसा रहिते धर्मे अष्टादशदोष वर्जिते देवे ।
निर्ग्रन्थे प्रावचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ।।

हिंसा रहित अर्थात् अहिंसा रूप धर्म मे, क्षुधा, तृषादि अठारह दोष रहित अरहंत देव मे, निर्ग्रन्थगुरु में तथा निर्ग्रन्थ की वाणी अर्थात् जिनागम मे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

विशेष—यहा आचार्य कुदकुंद ने गृहस्थ की दृष्टिसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहा है। यह कथन सम्यक्त्व के बाहरी चिह्न का नही है। यहा उन्होने 'सद्दहण सम्मत्त' शब्द द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप कहा है, चिह्न नही।

प्रश्न—क्या सम्यग्दर्शन निर्विकल्प समाधि रूप है ?

उत्तर—निर्विकल्प समाधि लक्षण सम्यक्त्व का नहीं है। समाधि अर्थात् ध्यान चारित्रका भेद है। निर्विकल्प समाधि यह निश्चय चारित्र का लक्षण है। दर्शनपाहुडमें कुंदकुंद स्वामी ने सम्यग्दर्शन के विषयमे निरूपण करते हुए निश्चयनयकी दृष्टि से तथा व्यवहार नयकी अपेक्षा इस प्रकार स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जिनेन्द्रदेव ने कहा है, व्यवहारनय से जीवादिका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है तथा निश्चयनय से आत्माका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की पात्रता गृहस्थमें न होने से उसके लिए सम्यग्दर्शनका व्यवहारनय कथित स्वरूप कहा है। मोक्षपाहुड मे पहिले आचार्य कह चुके हैं।

सद्दव्वरओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्त परिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माणि ॥१४॥

स्वद्रव्य अर्थात् आत्मस्वरूपमे निमग्नतारूप सम्यग्दर्शन युक्त श्रमण (मुनिराज) सम्यक्त्वी कहे गये हैं। ऐसे निश्चय सम्यक्त्वरूप परिणत श्रमण दुःखदायी आठो कर्मोका क्षय करते है।

प्रश्न—गृहस्थ तथा श्रमण दोनो मोक्षाभिलाषी है। उनके लिए एक प्रकार की देशना ठीक थी। द्विविधरूप से उसका कथन क्यो किया गया ?

उत्तर—गृहस्थ और मुनिमें आत्मविकास, निर्मलता, कर्मनिर्जरा आदि की दृष्टि से महान अतर है। अविरत सम्यक्त्वी से असख्यात गुणी निर्जरा देशव्रती श्रावक के कही है। अविरत सम्यक्त्वी की निर्जरा यदि सरसो के दाने बराबर है, तो देशव्रती की मेरु पर्वत तुल्य कर्मोकी निर्जरा होती है। देशव्रती की अपेक्षा दिगम्बर मुनिराज के असख्यातगुणी निर्जरा कही गई है। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है, सम्यग्दृष्टिश्रावक-विरता-नतवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीण-मोह-जिनाः क्रमशोऽसख्येय-गुण-निर्जराः ॥९-४५॥

इस कारण पात्रता, अपात्रताका विचार कर कुंदकुंदस्वामी ने श्रावक और श्रमण के योग्य सम्यग्दर्शन की विविध देशना की है।

चारित्रपाहुड मे कुंदकुंदस्वामी ने श्रावकके लिए पच-अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत रूप द्वादश व्रतोका उपदेश दिया है। आचार्य महाराज के शब्द इस प्रकार है।

पचेवणुव्वयाइ गुणव्वयाइं हवति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि सजम चरणं च सायार ॥२२॥

उपरोक्त द्वादश-व्रतोंको जिनमें देवपूजा, पात्रदान आदि सम्मिलित हैं आचार्य कुंदकुंद ने 'सावयधम्म'-श्रावक धर्म कहा है "एव सावयधम्मं संजमचरणं उदेसिय" (२६ गाथा) मुनियो के चारित्रको 'जइधम्मं'-यति धर्म कहते हुए इस प्रकार बताया है—

पचिंदियसंवरण पचवया पंचविंस किरियासु ।
पचसमिदि तयगुत्ति संजमचरण निरायारं ॥२७॥

पचेन्द्रियजय, पंचमहाव्रत जो पचविंशति क्रियाओ के होने पर निर्दोष पाले जाते हैं, पंच-समिति, तीनगुप्ति अनगार अर्थात् मुनिकी अपेक्षा सयमचरण-सयमचारित्र कहा है ।

द्वादशानुप्रेक्षामे कुंदकुदस्वामी ने श्रावक धर्म एकादश प्रतिमारूप तथा श्रमण धर्म उत्तमक्षमादि दश प्रकार का कहा है । यहा निम्नलिखित गाथामे चारित्रके लिए धर्म शब्द का प्रयोग किया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि व्रताचरण को भी धर्म मानना उचित है ।

एयारस-दस-भेय धम्म सम्मत्तपुव्वय भणिय ।
सागार-णगाराण उत्तमसुह सपजुत्तेहिं ॥६८॥

उत्तम सुखको प्राप्त जिनेश्वरने गृहस्थ तथा मुनियोका धर्म एकादश तथा दश प्रकार का कहा है, वह धर्म सम्यक्त्वपूर्वक होना चाहिए ।

गृहस्थ रूप असमर्थ पात्र की अपेक्षा सम्यक्त्वका लक्षण अहिंसा धर्म, अरहतदेव निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी का श्रद्धान कहा है । नियमसार मे कुदकुंद स्वामी ने गृहस्थ तथा मुनि की अपेक्षा सम्यग्दर्शनका जो लक्षण किया है, वह मोक्षपाहुड मे श्रावक की अपेक्षा कथित लक्षण स्वरूप है । नियमसार मे कहा है—

अत्तागम तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त ।
ववगय असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आप्त, आगम तथा तत्वोके श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है । संपूर्ण दोषो से रहित तथा समस्त गुणात्मक आप्त कहे गए है ।

महर्षि पूज्यपादने उपासकाचार ग्रथ मे गृहस्थ धर्मका निरूपण करते हुए इन शब्दो में सम्यक्त्वकी प्रतिपादना की है—

नास्त्यर्हत्परो देवो नास्ति धर्मो दयां विना ।
तप· परं च नैग्रन्थ्य एतत् सम्यक्त्वलक्षणम् ॥

अरहत भगवान के सिवाय दूसरा देव नही है, दयाके बिना धर्म नही है, तपश्चर्या प्रधान मुनि होते हैं, यह (श्रद्धा रूप) लक्षण सम्यक्त्वका है ।

समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहा है—

श्रद्धान परमार्थाना-माप्ता-गम-तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढ-मष्टागं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

सच्चे आप्त अर्थात् सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अरहंत भगवान, जिनवाणी तथा साधु परमेष्ठी का देव, गुरु तथा लोकमूढता रहित, आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुंदकुंदस्वामी ने जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप अहिंसा-धर्म, अर्हन्तदेव तथा आर्ष आगममे श्रद्धान रूप कहा है, उसको धारण करना श्रावकके लिए हितकारी है। अष्टागयुक्त तथा २५ दोषरहित सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु प्राथमिक अवस्थामें प्रयत्न आवश्यक है। इस क्रमका परित्याग कर जो व्यक्ति कोरी आत्मस्वरूपमे निमग्नताकी बातें करता है, उसके हाथ मे शून्य ही आता है। यह कहावत उपयोगी है "आधी छोड एकको धावे ऐसा डूबा थाह न पावे" एक कुत्ते के मुँह मे आधी रोटी थी, नदी मे परछाई मे दूसरे कुत्ते के मुखमे रोटी देख कुत्ता उस रोटी को पाने को झपटा और अथाह जल प्रवाह मे बहकर वह डूब गया। ऐसी ही दशा उनकी होती है, तो व्यवहारनयका आश्रय न ले परमभावदर्शी शुद्धोपयोगी, शुक्लध्यानी महामुनि के निश्चयनय को अपना मुख्य आश्रय बनाने की बात करते है। दुर्लभ मनुष्यजन्म का सदुपयोग हेतु आर्ष वचनानुसार श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरण करना चाहिए। स्वच्छदता कुगतिदायी है।

द्यानतरायजी ने पूजामे सम्यग्दर्शनका यथार्थ स्वरूप इन शब्दोमे प्रतिपादित किया है—

प्रथम देव अरहंत सुश्रुत सिद्धान्तजू।
गुरु निरग्रन्थ महान मुकति पुर पंथजू॥
तीन रतन जगमाहि सुये भवि ध्याइये।
तिनकी भगति प्रसाद परमपद पाइये॥

सम्यक्त्व के विषय मे पुन कहते है—

जह जाय रूव रूवं सुसंजयं सव्वसंग परिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

यथाजातरूप-रूप सुसंयत सर्वसगपरित्यक्तम्।
लिग ण परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम्॥

जो यथाजात रूप अर्थात् माताके उदरसे जन्म लेते समय का रूप (दिगम्बर मुद्रा) पूर्णसंयम, संपूर्ण परिग्रह का परित्याग तथा परावलवन रहित शरीरमात्र परिग्रहयुक्त मुद्राको मानता है, उसके सम्यक्त्व होता है।

कुच्छिय देवं धम्मं कुच्छिय लिंगं च वंदए जो दु ।
लज्जा-भय-गारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥९२॥

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सित लिंगं च वदते वस्तु ।
लज्जा-भय-गारवतो मिथ्यादृष्टि र्भवेत् स हु ॥

जो काम क्रोधादि विकारयुक्त कुदेव, हिंसादि पोषक धर्म तथा कुलिंगी साधुओ की लज्जा, भय, तथा गारव अर्थात् गर्ववश वदना करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है ।

विशेष—आजकल लोग सार्वजनिक जीवनमे अपनी विशेष स्थिति बनाए रखनेकी जघन्य लालसा वश तथा सन्मान प्राप्ति के मोह युक्त हो सत्यपथ, असत्यपथका विवेक छोड "गंगा गये तो गंगादास और जमना गये तो जमनादास" बना करते है, उनको आचार्य कु दकु द मिथ्यात्वी कहते है। परिग्रह धारकको जो गुरु मानते हैं, उन्हे भी कु दकु दस्वामी मिथ्यादृष्टि कहते हैं, कुंदकुंद स्वामीने दर्शनपाहुड मे स्पष्ट आदेश दिया है, "असजद ण वदे" परिग्रहधारी असंयमीकी वदना न करे। जो असंयमी अपनी वदना कराता है तथा जो असंयमी की वंदना करता है, आगमरूपी कसौटी उन दोनों को मिथ्यादृष्टि कहती है। जनमत, धनवल, वैभववल, आदिके प्रभावसे सत्यतत्त्वका स्वरूप नही वदला जा सकता है। धनिको की या राजनीतिज्ञो की कोई सस्था यह निर्णय कर दे, कि कलसे सूर्य पूर्व के वदले मे पश्चिमसे उदित होगा, तो क्या सूर्य के उदयकी दिशा वदल जायगी ? ऐसा कभी नही होगा। इसी प्रकार सच्चे देव, सच्चे धर्म तथा परिग्रह त्यागी दिगम्वर गुरु को भूलकर कुगुरु, कुधर्म, कुदेव को मानने वालो की कल्पनानुसार सम्यक्त्वका स्वरूप नही वदलेगा। विपरीत पदार्थोंके प्रति श्रद्धानकरना मिथ्यात्व है। वह कभी भी सम्यक्त्वी नही हो सकता।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे ।
माणइ मिच्छादिट्ठी णहु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देव असंयतं वंदे ।
मानयति मिथ्यादृष्टिः न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥

स्व तथा पर रूप पदार्थो के आश्रययुक्त वेष, रागीदेव तथा संयमरहित गुरुको जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जो ऐसा नही मानता है वह सम्यक्त्वी है।

विशेष—सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वके बीच समझौता नही होता। क्या प्रकाश और अधकारके बीच कभी समझौता सभव है। सम्यक्त्व रूप ही सच्चा धर्म होगा तथा मिथ्यात्व सदा ही अधर्म रहेगा। अविवेकी दीर्घससारी अधर्मको धर्म रूपमे मान्यता प्रदान हेतु उद्योग करते हैं। विचारवान

पुरुष को मिथ्यात्वरूपी-विषपानसे सदा बचना चाहिए। रानी चेलना ने भिन्न धर्म वाले अपने पति श्रेणिक का साथ नही दिया। चेलना महारानी ने अपनी चतुरता तथा पवित्र श्रद्धाके प्रभाव से मिथ्यात्वी पतिदेवको सम्यक्पथ मे खेच लिया। राजा श्रेणिक ने महावीर प्रभु के चरणो के समीप क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया तथा आगामी तीर्थंकर वनाने वाली तीर्थंकर प्रकृति का बध भी किया।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेव-देसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित श्रावक धर्म को अगीकार करता है। इसके विपरीत प्रवृत्ति करने वाला मिथ्यात्वी जानना चाहिए।

विशेष—विषयासक्त, प्रमादी दीर्घ ससारी जीव अपनेको सम्यक्त्वी सोचता हुआ, सर्व बाह्य अनुकूल साधन सपन्न होते हुए भी श्रावकाचार से दूर भागता है; तथा सयमी को देखकर क्रुद्ध हो जाता है, ऐसा व्यक्ति कुदकुद स्वामी के कथनानुसार मिथ्यादृष्टि है। असमर्थ अवस्थावाला सम्यक्त्वी संयमी को देखकर ऐसा आनंदित होता है, मानो उसे चिन्तामणि रत्न मिल गया हो। दर्शनपाहुडमें कुदकुद स्वामी ने महत्वपूर्ण बात कही है—

ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

जितनी शक्ति है, उतना आचरण करो, जिसे करनेकी शक्ति न हो, उस विषय मे श्रद्धा धारण करो। केवली भगवान ने कहा है श्रद्धायुक्त व्यक्तिके सम्यक्त्व होता है।

कवि द्यानतरायजी ने उपरोक्त भावको इस प्रकार स्पष्ट किया है।

कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति विना सरधा धरै।
द्यानत सरधावान अजर अमर पदवी लहै॥

कुदकुद स्वामी ने दर्शनपाहुड में मुनिद्वेषी व्यक्तिको मिथ्यादृष्टि कहा है।

अमराण वंदियाणं रूव दट्ठूण सीलसहियाण।
जे गारव करति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

जो देवोके द्वारा पूज्य, शीलसहित दिगम्बर मुनिके रूपको देखकर अभिमान करते हुए उनको नही मानते है वे मिथ्यात्वी हैं।

विशेष—इस कालमें कुछ ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं, जो अपने को महान आध्यात्मिक मानते हुए तथा स्वयं सदाचार शून्य होते हुए दिगम्बर मुनियोंका अनादर करते हैं; उनके विषयमें कुंदकुंद वाणी यह उद्घोषित करती है, कि वे जीव सम्यक्त्व विवर्जित है।

सम्यक्त्वी जीव सयमीको प्रणाम करता हुआ हृदयमें यह भावना करता है, कि मुझे भी इस मुद्राको धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हो, कारण दिगम्बर मुद्रा धारण किये विना मोक्षकी प्राप्ति असंभव है।

शंका—समयसार में बाहरी वेष को मोक्षप्रद नही कहा है—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छय णओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहारनय मोक्षके मार्ग रूप श्रावक तथा श्रमण दो लिंग कहता है, किन्तु निश्चयनय मोक्ष-मार्गमे सर्व लिंगोको इष्ट नही मानता है।

समयसार जिनागम है, उसके कथनानुसार हम मोक्षके लिए किसी वेषको मान्यता नही देते। "कषायमुक्तिरेवमुक्ति."—कषायोसे छूटने पर मोक्ष प्राप्त होता है, दिगम्बरपना, श्वेताम्बरपना आदि विकल्पो का मोक्षमार्ग से कोई संबंध नही है। वस्त्रादि धारक भी समयसार की शरण ग्रहण कर मोक्ष जा सकता है।

समाधान—आगम में दोनो नयो को प्रमाणिकता प्रदान की गई है। पचास्तिकाय टीकामे कुंदकुंदस्वामी की वाणी के रहस्य का उद्घाटन करने वाले अमृतसूरि कहते हैं "निश्चयव्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत्, अतएवोभय नयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति" (गाथा १५९ की टीका)—सुवर्ण साध्य है, उसका साधन सुवर्ण पाषाण है इस प्रकार निश्चयनय साध्य है तथा व्यवहारनय साधन रूप है। महावीर जिनेश्वर की धर्मदेशना निश्चयनय तथा व्यवहार-नय इन दोनो पर आश्रित है इस कथनके प्रकाश मे दोनों नयोंका कथन परस्पर अविरोधी है। सविकल्प अवस्थामे मोक्षके कारण बाह्य लिंगका महत्व है। निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त दिगम्बर महामुनिके बाह्यलिंगका ममत्व नही रहता है। यह बात कुंदकुंदस्वामीने स्पष्ट की है, कि दिगम्बर मुद्राको धारण किए बिना निर्वाण असभव है। सूत्रपाहुडमे उन्होने कहा है—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

जिनेन्द्र भगवानके शासनमे कहा है कि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी होने पर मोक्ष नही जाते। दिगम्बरपना मोक्षका मार्ग है, शेष अन्य वेष उन्मार्ग हैं।

प्रश्न—मुक्तिका पथ समता है। वस्त्र रहे या न रहे दोनो दशाओं में साम्य भाव रहना चाहिए। दिगम्बरपने में क्या रहस्य की वात है ?

समाधान—मोक्ष के लिये परिपूर्ण अहिंसा की साधना आवश्यक है। वस्त्रादि के होते हुए उनको स्वच्छ करने के लिए जलादि की अनिवार्य आवश्यकता पडती है, उसमे जीवघात हुए विना नही रहता है। समन्तभद्रस्वामी ने नमिनाथ तीर्थंकर के स्तवनमें कहा है "तस्तत्सिध्यर्थं परम करुणो ग्रंथमुभयं भवानेवात्याक्षीत्" (११६) अहिंसा की सिद्धि हेतु परम करुणा भाव धारण कर अंतरग परिग्रह क्रोधादि कषाय तथा वाह्य परिग्रह वस्त्रादिका परित्याग भगवान नमिनाथने किया था। समन्तभद्र स्वामीने भगवान अभिनन्दननाथ के स्तवनमे कहा है कि जिनेन्द्रने समाधि अर्थात् ध्यान की उपलब्धि हेतु दिगम्वर मुद्रा अंगीकार की थी। निर्विकल्प समाधिमे वाहरी सामग्री की स्वीकृति वाधाकारी हो जाती है। आचार्य महाराज के शब्द इस प्रकार हैं—समाधितन्त्रस्तदुपोपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य-गुणेन चायुजत्'—समाधि के लक्ष्यकी उपलब्धि के हेतु जिनेन्द्रने अन्तरंग एव बहिरग निर्ग्रन्थपने से अपनेको समलकृत किया।

जिनसेनाचार्यने नग्नपनेको महातप कहा है, उस अवस्थामे श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य की साधना होती है। "ब्रह्मचर्यस्य सा गुप्ति नाग्न्यं नाम परं तप." (महापुराण)

एक कवि ने मार्मिक वात कही है—

है नजर धोवी पै जामापोशकी।
है तजल्ली जेवरे उरियातनी॥

इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि जिस महाभाग की आत्मा सम्यक्त्व के प्रकाशयुक्त है, वह यथाशक्ति संयमके पथ मे प्रवृत्ति किये विना न रहेगा, तथा वह महान साधुओ के दर्शनसे स्वयको कृतार्थ करेगा तथा संयमविद्वेषी का झुकाव विषयो की ओर अधिक रहेगा।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्म-जर-मरण-पउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे ससरति सुखरहितः।
जन्म-जरा-मरण-प्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः॥

मिथ्यादृष्टि जीव सुख रहित होता हुआ हजारो प्रकार की व्यथाओ से मुक्त हो जन्म, जरा मरण प्रचुर ससारमें परिभ्रमण करता है।

सम्मगुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥९६॥

सम्यक्त्व गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु ।
यत्ते मनसे रोचते किं बहुना प्रजल्पितेन तु ॥

सम्यग्दर्शन गुण है, मिथ्यात्व दोष रूप है; इस विषय को अच्छी तरह से अपने मनमे सोच, फिर जैसा तेरे मनको रुचिकर लगे, वैसा कर । अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ है ।

विशेष—यहा आचार्य ने सम्यक्त्व को गुण बताते हुए उस पथमे ही लगने की ओर संकेत किया है ।

बाहिरसंग विमुक्को ण विमुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाण मउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥

बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः ।
किं तस्य स्थान मौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥

जो बाह्य परिग्रह का त्यागी हो करके भी मिथ्यात्व भाव रहित निर्ग्रन्थ नही हुआ है, उसके खडे होकर कायोत्सर्ग करना तथा मौन धारण कार्य क्या करेंगे ? वह अपनी आत्मा के समान सब जीवों को शुद्ध-बुद्ध स्वभाव वाला नही जानता है ।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंग विराधगो णिच्चं ॥९८॥

मूलगुण छित्वा बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिंगविराधकः नित्यम् ॥

जो पंचमहाव्रत, पच समिति आदि अष्टाविंशति मूलगुणो की विराधना करता हुआ आतापन-योगादि बाह्य कर्मों को करता है, वह सिद्धि सुख अर्थात् मोक्षके आनन्द को नही प्राप्त करता है । ऐसा साधु सदा जिनमुद्रा के विपरीत प्रवृत्ति करता है ।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च ।
किं काहिदि आदानं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥

किं करिष्यति बाह्यकर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं च ।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥

जो साधु आत्मस्वभावसे विपरीत होकर पठन पाठनादि बाह्य कार्य को करता है, अनेक प्रकार के उपवासों को करता है तथा आतापन योग करता हुआ कष्ट उठाता है, उसके क्या लाभ होता है ? उसके मोक्ष की प्राप्ति नही होती है ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥

यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि च चारित्राणि ।
तद्बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥

आत्मस्वरूप से विमुख मिथ्यात्वी व्यक्ति बहुत शास्त्रो को पढता है, तो यह शास्त्रज्ञान बाल श्रुत है तथा यदि वह अनेक प्रकारका चारित्र पालता है तो उसका वह चारित्र बालचरण अर्थात् अज्ञानी का आचरण है।

विशेष—सम्यग्दर्शन के अभावमे शास्त्राभ्यास तथा सयम पालन अज्ञानयुक्त ज्ञान तथा अज्ञानयुक्त चारित्र कहे गये हैं। सम्यक्त्व के अभाव मे ज्ञान तथा चारित्र मे समीचीनता नही पाई जाती है। सम्यक्त्व ज्ञान तथा चारित्रमे समीचीनता उत्पन्न करता है। उसकी अपार महिमा है।

वेरग्गपरो साहू परदव्व परम्मुहो य सो होदि ।
संसार सुह विरत्तो सग-सुद्ध सुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

वैराग्यपरः साधु. परद्रव्य पराङ्मुखश्च स भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्ध सुखेषु अनुरक्तः ॥

वैराग्यभावयुक्त साधु बाह्य वस्तुओ से विमुख होता है, वह ससार के सुखो से विरक्त होता हुआ आत्माके स्वाभाविक आनद मे अनुरक्त होता है।

विशेष—साधु पदवी का प्राण वैराग्यभाव है। वैराग्यभाव युक्त अल्पज्ञानी साधु भी मोक्ष प्राप्त करता है, तथा विषयासक्त व्यक्ति ज्ञानसागर का पारगामी होते हुए भी नरक जाता है। भावपाहुडमें कहा है—

तुसमास घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

महाप्रभाव सपन्न निर्मलभाव युक्त शिवभूति नामके मुनि तुष-माष भिन्न (दाल और छिलका जैसे जुदे २ हैं, इसी प्रकार आत्मा कर्मादि विकारो से पृथक है) ऐसा चिंतवन करते हुए केवलज्ञानी हुए।

गुणगण-विहूसियंगो हेयोपादेय-णिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

गुणगण विभूषितागः हेयोपादेय निश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥

क्षमा, शील, सत्यादि गुणो से अलकृत तथा हेयोपादेय तत्त्वके ज्ञाता साधुको ध्यान-अध्ययनमे संलग्न रहे आने पर मोक्षरूप उत्तम स्थान प्राप्त होता है।

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइए हि अणवरयं।
थुव्वंते हि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम्।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत् ॥

देह मे स्थित उस परम तत्त्व आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो, जो देवेन्द्रादि द्वारा, पूज्य व्यक्तियों द्वारा वंदित होता है, ध्यान करने के योग्य परम आराध्य तीर्थकर जिसका सदा ध्यान करते है, विश्व के द्वारा स्तुति पात्र तीर्थकरादि महापुरुष जिस विशुद्ध आत्मस्वरूपकी स्तुति करते है।

विशेप—मोक्ष का साक्षात् कारण स्वसमय की समाराधना है। परसमयमे प्रवृत्ति द्वारा स्वर्गादिका सुख प्राप्त होता है। अमृतचन्द्रसूरिने कहा है "स्वसमयप्रवृत्तिनाम्नो जीवस्वभाव-नियत-चरितस्य साक्षात्मोक्षमार्गत्वमुपपन्नमिति" (पचास्तिकाय गाथा १६४ की टीका) स्वसमय रूप शुद्धात्मामें प्रवृत्ति नामक जीव स्वभावमे नियत चारित्र को मोक्ष का साक्षात् मार्ग मानना उपयुक्त है। यह पात्रता चरमशरीरी जीव मे पाई जाती है। इस पचमकालमे चरमशरीरी अर्थात् तद्भवमोक्षगामी महापुरुषका अभाव कहा गया है।

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः।
ते पि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्यादात्मा हि मे शरणम् ॥

अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप पचपरमेष्ठी रूप अवस्था मुक्त आत्मा ही होता है, इससे आत्मा ही मेरे लिये शरण रूप है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपश्चैव।
चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्यादात्मा हि मे शरणम् ॥

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, समीचीन तप ये चारों आत्मामें ही पाये जाते है अर्थात् आत्माको छोड़कर अन्यत्र इनका असद्भाव है, अतः आत्मा ही मेरे लिये शरणरूप है।

विशेष—बाह्य सामग्री परम्परा से मोक्षका कारण आगममे कही गई है, किन्तु मोक्ष का साक्षात् कारण तो निर्मल आत्मा ही है। पूज्यपाद महर्षि ने समाधिशतक मे कहा है—

नमत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरु रात्मात्मनस्तस्मान्नान्योस्ति परमार्थत· ॥७५॥

आत्मा ही आत्माको ससारमे तथा मोक्षमे ले जाता है। इससे परमार्थ दृष्टिसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, अन्य नही है।

महर्षि कु दकु द कहते है—

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढदि सुणदि भावदि सो पावदि सासयं सुक्खं ॥१०६॥

एवं जिनप्रज्ञप्त मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या।
यः पठति, शृणोति, भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ॥

इस प्रकार सर्वज्ञ, वीतराग हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मोक्ष प्राभृत शास्त्र को अत्यन्त भक्तिपूर्वक पढता है, सुनता है तथा भावना करता है, वह जीव अविनाशी सुखको प्राप्त करता है।

विशेष—इस परमागमके पठन, श्रवण तथा मनन के द्वारा जीव अविनाशी सुखको प्राप्त करता है। इस प्रकार यह शास्त्र आत्महित साधनामे निमित्त कारण है।

लिखित शास्त्र अथवा शब्द रूप परिणत पुद्गल द्रव्यरूप हैं। इस अचेतन शास्त्रके द्वारा जीव द्रव्य का हित होता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कथचित् उपकार करता है, यह मान्यता आगम तथा अनुभव समर्पित है। इसके विपरीत एकान्त पक्ष अकल्याणकारी है। वह मिथ्यात्व है।

श्री आचार्य शिवसागर ग्रन्थमाला के प्रकाशन

१	द्रव्यानुयोग प्रवेशिका	(अप्राप्य)
२	सारसमुच्चय	(अप्राप्य)
३	पार्श्वपुराण (पद्य)	(अप्राप्य)
४	मुक्ति पथ	(अप्राप्य)
५	पद्मपुराण (दौलतरामजी)	२४)
६	त्रिलोकसार	४०)
७	गुरु गौरव	(अप्राप्य)
८	पार्श्वनाथ चरित्र	१५)
९	सम्यक्त्व कौमुदी	१५)
१०	समाधि दीपक	(अप्राप्य)
११	ऋषिमण्डल पूजा विधान	१०)
१२	आत्मप्रसून	(अप्राप्य)
१३	परमाध्यात्म तरंगिणी	....
१४	चारित्र शुद्धि जाप्य	२)
१५	श्रावक सोपान	(अप्राप्य)
१६	धर्मामृत	१५)
१७	धर्मध्यान दीपक	....
१८	महापुराण (आदिपुराण)	८०)
१९	हरिवंश पुराण	४०)
२०	श्रुतस्कन्ध पूजा विधान	....
२१	स्तोत्रादि संग्रह	.....
२२	सप्त व्यसन कथा	५)
२३	गुणस्थान मार्गणा चर्चा	....
२४	श्रमणचर्या	....
२५	शान्तिनाथ चरित्र	१५)
२६	गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)	प्रेस में
२७	सिद्धांतसार दीपक	प्रेस में
२८	मोक्षपाहुड	३)

*